श्री सहजानन्द-शास्त्रमाला

(७४)

श्री सहजानन्द-डायरी

सन् १९५७ ई०

रचयिता:—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य मनोहरजी वर्णी

प्रकाशक:—

आनन्द प्रकाश जैन वकील

मन्त्री श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

२०१, पुलिस स्ट्रीट सदर मेरठ।

THE PSALM OF SOUL

Constant ! Wishless ! Absolute ! Free
Knower ! Seer ! Soul is Me

I am what Supreme Being is,
What myself is that God is;
With this sole apparent difference,
Here–"Passions", there–"Indifference"

My real Self like Siddhas is
Infinite Power ! Knowledge ! and Bliss !
Losing knowledge, being aspirant,
I am left a beggar—ignorant

None else bestows pain amd pleasure,
'Love' and 'Anger' are grief's treasure,
"Self" from "Non–Self" distinguish,
And then, there is on anguish

Whose name Buddha, Rama, Ishwer, Jina,
Brahma, Vishnn Hari, or Shiva,—
Leaving passions, reach "the Goal'
No distress then in the Soul

World does function by itself,
What work of it does my self ?
Alien influence ! Do get away !
In Bliss for e'er may I stay ! !

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की शुभ नामावली

श्री ला० महावीर प्रसाद जी बैङ्कर्स सराफा मेरठ सदर	२००१)
श्री कृष्णचन्द जी जैन १८ तिलक रोड, देहरादून	११११)
श्री मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन पुरानी मंडी मुजफ्फरनगर	१००१)
श्री प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन प्रेमपुरी मेरठ सिटी	१००१)
श्री सलेकचन्द लालचन्द जी जैन आबूपुरा मुजफ्फरनगर	११०१)
श्री दीपचन्द जी जैन रईस झंडा बाजार देहरादून	११०१)
श्री बारूमल प्रेमचन्द जी जैन कुल्हडी बाजार मसूरी (देहरादून)	११००)
८ श्री बाबूराम जी मुरारीलाल जी जैन ज्वालापुर (सहारनपुर)	१००१)
९ श्री केवलराम उग्रसैन जी जैन स्वस्तिका मेटल वर्क्स जगाधरी	१००१)
१० श्री गैंदामल जी दगड्साह जी जैन सनावद (म० प्र०)	१००१)
११ श्री मुकुन्दलाल जी गुलशन राय जी नई मंडी मुजफ्फरनगर	१००१)
१२ श्री बा० कैलाशचन्द जी जैन देहरादून	१००१)
१३ श्री बाबूराम अकलङ्क प्रसाद जी जैन रईस तिस्सा	१००१)
१४ श्री जयकुमार जी वीरसैन जी सराफ सराफा मेरठ सदर	१००१)
१५ श्री भवरीलाल जी जैन पाड्या झूमरीतिलैया (हजारीबाग)	१००१)
१६ श्री सेठ जगन्नाथ जी पाड्या झूमरी तिलैया	१००१)
१७ श्री से० फतेहलाल जी (रि०) एक्जन जयपुर	१००१)
१८ श्री मन्त्री जैनसमाज खण्डवा (म० प्र०)	१००१)
१९ श्री मुखबीरसिंह हेमचन्द जी जैन सराफ बड़ौत (मेरठ)	१००१)
२० श्री फूलचन्द बैजनाथ जी जैन नई मंडी मुजफ्फरनगर	१००१)

*२१ श्री सेठ जुगलकिशोर शीतल प्रसाद जी जैन मेरठ सदर १००१)

* २ श्री सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी बडजात्या जयपुर १००१)

*२३ बा० दयाराम जी जैन S. D. O. टकी मौहल्ला मेरठ सदर १००१)

*२४ श्री मुन्नालाल यादवराय जी जैन टकी मौ० मेरठ सदर १००१)

*२५ श्री ला० जिनेश्वर प्रसाद अभिनन्दनकुमार बजाज सहारनपुर १००१)

+२६ ला० जिनेश्वरदास श्रीपाल जी जैन ३१ लोअर बाजार शिमला १००१)

+२७ ला० बनवारीलाल निरजनलाल जी जैन मिडिल बाजार शिमला १००१)

उक्त सदस्यो मे से जिन नामो के आदि मे * यह निशान लगा है उनके कुछ रुपये आ गये बाकी आना है। जिन नामो के आदि मे + यह निशान लगा है उनके रुपये अभी नही आये सभी रुपये उनके नाम हैं। शेष सबके रुपये पूरे आ चुके हैं।

श्री सहजानन्द डायरी सन् १९५७

१ जनवरी सन् १९५७

आज व्यावहारिक वर्षका प्रथम दिन है। वैसे तो प्रति समय नया नया
य होता है ये ही नये नये समय कुछ मर्यादामें वर्ष कहलाते हैं। नया समय
या यह हर्षकी बात नहीं किन्तु अच्छी बात यही होगी कि नया नया विशुद्ध
णाम होता रहे। अपना परिणमन अपना समय है। अपना समय अच्छा
ताओ, इसका अर्थ है कि अपना परिणमन अच्छा बनाओ।

मेरा वर्तमान परिणमन मेरे सन्तोषके योग्य नहीं है। वस्तु स्वरूपका
ज्ञान है फिर क्यों नहीं निज वस्तुके अनुरुप परिणमन हो पाता इस बातके
ये हैरानसा रहता हू।

अन्य सब परिचित बन्धु प्रायः सफलसे दीख रहे हैं। श्री सिं०
ीलाल जी गोटे गांव वाले विशुद्ध पथ पर बढते चले जा रहे हैं। गृहस्थ
र परिवार सम्पन्न होकर भी इतनी अधिक धीरता इनमें है कि जितनी
शसा की जाये थोड़ी है, करीब करीब दो माहसे साथमें हैं। मात्र हफ्तेमें
ो दिनको घर जाना पड़ता है शेष समय साथ ही रहते हैं। ध्यानमें इनकी
काग्रता उत्तम है। यह प्रसन्नताकी बात है। ये स्वरूपाचरणमें सफल हो।

ॐ शुद्धं चिदस्मि। मैं मात्र चैतन्य स्वरूप हू। यद्यपि मैं प्रति
मय परिणमता रहता हू। तथापि परिणमनको देखकर मैं क्या लाभ
उठाऊंगा। परिणमन तो एक समय होकर विदा हो जाता है। यदि
किसी परिणमनको पकड़ूं उपयोग द्वारा तो परिणमन तो खिसकता
चला जायगा। हा परिणमन बुद्धि घिसटती रहेगी। इस अध्रुव दृष्टि का
फल संसार है, क्लेश है। ॐ, शुद्धोऽहं, बुद्धोऽहं, नित्योऽहं, निरञ्जनोऽहं,
ज्ञानानन्दस्वरूपोऽहं, सर्वविभावशून्योऽहं, निःशल्योऽहं, सरलोऽहं, शुद्ध
चिद्रूपोऽहं, ॐ शुद्धं चिदस्मि।

२ जनवरी ५७ मढिया जी जबलपुर

यह स्थान धर्म साधनको उत्तम बाह्य साधन है। धर्मकी साधना
बनानेके लिये दो बातें उपयोगमें बनना चाहियें, १— अपने एकत्वका (एकेन

पनका) ध्यान, २—मृत्युकी शिर पर सवारीका ध्यान। यह भाव जो हो रहा है वह मैं नहीं हूं। यह भाव तो क्षणिक है, होकर अभी नष्ट हो जाने वाला है। नष्ट होने वालेके स्नेहमें लाभ तो कुछ भी नहीं है हानिमें क्लेशकी संतति है।

यह विचार मैं नहीं हूं। विचार भी आकुलता उत्पन्न करके नष्ट हो जाने वाली चीज है। अय विचार! निकल जावो, तुममें मेरी रुचि नहीं है। मैं किन्हीं भी विचारोंकी रुचि नहीं करता, आदर नहीं करता, फिर भी ये विचार आ धमकते हैं यह हमारी असावधानीका परिणाम है।

जानना और विचारमें अन्तर है। जानना ज्ञानका अनिवार्य काम है। उसे मैं मना नहीं करता, मना कर भी नहीं सकता, क्योंकि वह अरोक चीज है। किन्तु विचार विचारका सम्बन्ध ज्ञानसे नहीं, ज्ञान तो उदार है सो उसका भी सहयोग विचारको मिल जाता है, वस्तुत विचार मोह का परिणाम है।

हे शरीर! तेरा चतुष्टय मेरेसे अत्यन्त भिन्न है फिर भी मैंने ऐसी मूढता धारण करली है कि तुझमें एक कांटा भी छिदे तो मुझमें कल्पना व आकुलता की वेदना होने लगती है। यह क्या खेल है, इन्द्र जाल है।

मैं आत्मा अमूर्त, यह शरीर मूर्त भौतिक, इसमें कुछ बीते, पर अमूर्त, आत्मामें प्रभाव क्यों होता है? यह शरीरका दोष नहीं, शरीर के सम्बन्धका दोष नहीं। मात्र खुदके मोह परिणामका दोष है। तभी तो यह देहमें क्या, धनमें भी कल्पना कर दु:खी होने लगता है।

३ जनवरी १९५७ २

द्रव्य प्रदेश गुण पर्यायोंके पर्यायवाची शब्द निम्न प्रकार हैं:—

द्रव्य	प्रदेश	गुण	पर्याय
देश	देशांश	शक्ति	गुणांश
अखण्ड सत्	क्षेत्र	भाव	काल
वस्तु	स्वक्षेत्र	धर्म	परिणमन
धर्मी	आकार	स्वभाव	शक्त्यंश
पदार्थ	द्रव्य पर्याय	लक्षण	अविभाग प्रतिच्छेद

सत्	व्यञ्जन पर्याय	विशेष	गुण पर्याय
तत्त्व	प्रचय	प्रकृति	अर्थ पर्याय
सामान्य	तिर्यगंश	शील	स्वकाल
अन्वय	विष्कम्भ	स्वरूप	ऊर्ध्वांश
अर्थ	विस्तार	आकृति	आयत
विधि	तिर्यग्विशेष	स्रोत	प्रवाह
सामान्य	विशेष	सामान्य विशेष	विशेष विशेष
			हार
			विधा
			प्रकार
			भेद
			छेद
			भङ्ग
			भाग

४ जनवरी सन् १९५७

श्रीशाय नमः । श्रीका अर्थ है लक्ष्मी। लक्ष्मी शब्द लक्ष्म से बना है। लक्ष्मका अर्थ है लक्षण, चिन्ह याने स्वरूप या स्वभाव है। आत्माका स्वाभाव चैतन्य है। चैतन्यके ईश यद्यपि सभी चेतन है तथापि चैतन्य स्वरूप के ज्ञातामें चैतन्येश, श्रीश शब्दका व्यवहार है।

हे श्री ! हे लक्ष्मी हे चैतन्य ! हे परम परिणामिक भाव, हे कारण परमात्मन् ! हे समय सार ! ज्ञप्तिपथगामी रहो।

निज स्वभाव के सिवाय शेष सर्वभाव व द्रव्योका आश्रय आतमाका अहित है।

किसी भी आत्मामें तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं, सर्व अपने २ परिणाम और भाग्यके अनुसार निर्वाह करते हैं। किसी भी आत्माको अपना विरोधी मान उदारता समाप्त करना मूढता है और किसी भी आत्माको अपना स्नेही समझ उदारता समाप्त करना भी मूढता है।

उदारतामे अद्भुत शान्ति है। उदारता उन्नतिका मङ्गलाचरण है। उदारता उत्कृष्ट व्यवहार है। उदारता स्वयं उत्थान है। उदारता विरागताकी सखी है। उदारता मैत्रीकी जननी है। उदारता आकर्षणकी स्वामिनी है। उदारता ही आदिसे अन्त तक हित है।

जब पर्याय क्षणिक ही है तब पर्याय से मोह क्या करना। पर्याय गुजरने को ही उत्पन्न होती है। उसे गुजर जाने दो अपने दिमागमें गुजरनेसे रोको मत। यह रोकथाम केवल इन्द्रजाल है।

निरोध करो दुर्भावोका। विरोध करो अज्ञानका। उपरोध करो परिणाम का। अनुरोध करो विज्ञान का। अविरोध करो निज भावका।

५ जनवरी सन् १९५७

मेरा नाथ मैं हू। मेरा दुख मैं मैट सकता हू, फिर मैं किसी अन्यसे बोलकर क्या लाभ पाऊगा। मेरा जगतमें अन्य कोई सहाय नहीं फिर मैं किस पदार्थको चित्तमें बसाऊं।

अय मेरे नाथ! बड़े पापका उदय है कि जैसे जान पाया है तैसे नहीं रह पाता। यह उदय कब तक चलेगा। यह ही बडे अफसोस की बात है। समझा कि स्वभाव निराकुल है किन्तु तरङ्गोंसे अवकाश नहीं।

सत्य स्वरूप! तू ही परम कल्याण है। साम्यभाव तू ही परम शिव है। तेरी भक्ति परम भक्ति है। तेरी शक्ति परम शक्ति है। तेरा भजन ही परम भजन है।

आत्मन् विकल्पकी योग्यतामें ज्ञान सागरके तट पर ही बैठे रहने पर खण्डका दण्ड मिल रहा है। यदि एक बार ही आत्मीय हिम्मतका विकास करके ज्ञान सागरमें मग्न हो लिया जाय तो यह दण्ड समाप्त हो जायगा। जैसे ठण्डके दिनोंमें तालाबके निकट बैठे रहने पर ठण्ड सताती है, यदि एक बार तालाबमें डूब लिया जाय तो ठण्ड समाप्त हो जायगी।

क्या किसीने अन्तमें भी समागमसे कुछ हाथ ले पाया? फिर समागम यानी बाह्य वस्तुका मोह क्यों! यही तो पागलपन है। क्यों शब्द का प्रयोग ... , जैसी ही बातोंमें ही तो हुआ करता है।

क्या किसीका कुछ कभी भी हो पाया ? नहीं, फिर वास्तविकताके विरुद्ध चलनेपर क्या तुम कुछ लाभ उठा लोगे या व्यर्थके धक्के खाओगे। निर्णय तो कर।

इस इन्द्रजाल वत् जगतमें नामके रहनेकी जिनकी धुनि है उसे सनकी न कहा जाय तो क्या योगियोंको सनकी कहा जायगा।

६ जनवरी सन १६५७

किसी भी आलसीका संग मुझे नहीं सुहाता। इसे क्या मैं अपनी एक बडी कमजोरी मानूं या मामुली। मैं अभी इसका उत्तर नहीं दे पाया हूं अपने आपको।

आलसी, खुदगर्जकी शक्ल देखते ही चित्तमें संक्लेश हो जाता है। इसका उपाय मुझसे अन्य न बननेके कारण मैं तो इस निर्णयपर अपनेको ले गया हू कि उन आलसीको कह दिया जाय कि आपका आलस्य देखकर धीरे धीरे मैं भी कभी आलसी न हो जाऊं इस कमजोरीके कारण आपसे मैं एक कृपा चाहता हूं कि आप मुझे अपने संगसे मुक्त कर दीजिये।

आप ही अपने आपका विधाता है। शरीरमें ममत्व करके इसे आलस्य में रखना, काम न देना महान व्यामोह है। शरीर तो जलेगा या सड़ेगा यह निश्चित ही है फिर नाक थूकके घरको सजाना या मोहका विषय बनाना इसे मूर्खता नहीं कहेंगे तो क्या किसी विवेकीको मूर्ख कहेंगे।

लौकिक सुखियोंके बीच रहनेकी अपेक्षा दु:खियोके बीच रहना श्रेयस्कर होगा। क्योंकि सुखियोंके बीच रहनेमें वैराग्य व कर्मफलभय न आ सकेगा। दु:खियोके बीच रहनेमें दोनोका शुभावसर हो सकता है।

दुखित पशुओको देखकर तो विरागता और आत्माभिमुखताका और भी अधिक अवसर प्राप्त किया जा सकता है।

७ जनवरी १६५७

मोह नष्ट करनेका उपाय यथार्थ ज्ञान है। भक्तिसे पुण्य तो बांधा जा सकता है किन्तु मोह नष्ट नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार यथार्थ ज्ञानसे मोह तो नष्ट किया जा सकता है किन्तु पुण्य या पाप नहीं बाधा जा सकता है।

यथार्थ ज्ञानको सत्रोंमें बांधा जावे तो निम्न प्रकारसे बांधा जा सकता है :—

(१) प्रत्येक पदार्थकी स्वतन्त्रताकी प्रतीत हो जाना।

(२) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति त्रिकाल कर सकता नहीं है।

(३) कर्ता करण, कर्म व फल चारो स्वय प्रत्येक एक ही हैं।

विद्याका उपयोग निरन्तर बना रहे यह ही महान पुरुषार्थ है। आत्मा क्या कर सक्ता है। जो कर सकता है उसका प्रभाव कितनेमें होता है इसका निर्णय महान ज्ञान है। इस बोधसे उपलब्ध वह मर्म हो जाता है जिसके कि अवलम्बनसे आत्मा केवल ज्ञान पाता है।

दान चार प्रकार है— १ आहारदान २ ज्ञानदान ३ औषधिदान ४ अभयदान। इनके मुख्यत' फल निम्न प्रकार हैं आहार दानका फल मनोवांच्छित आहार विहार है। ज्ञान दानका फल केवल ज्ञान है औपधि दानका फल हो जाना पहलवान है। अभयदानका फल ऊचे नेता, ऊचे आफिसर, ऊचे राज्य विधाता बन जाना है। सर्वोच्च वैभव केवल ज्ञान है अत केवल ज्ञानके बीजभूत ज्ञानदानकी सर्वाधिक महिमा है।

८ जनवरी १९५७

सत्संगतिकी प्राप्ति उच्च पुण्योदयका परिणाम है। मनुष्य कला-कौशल सम्पन्न होकर भी पतित हो जाता है तब समझना कि उसे सत्सगति प्राप्त नही थी। सत्का अर्थ सज्जन पुरुप है। सज्जन पुरुषोकी सगति मिलना सत्संगति है।

सज्जन वह है जो विषय कषायमे निवृत्त होकर स्वभावकी दृष्टि बनाये रखनेका पुरुषार्थ करे। ऐसे महतोका समागम निर्मल परिणामके प्रवाहको उत्साहित करता है।

पहिले सहारेकी कीमत अनुपम होती हैं। मनुष्यका पहिला सहारा है सत्संग। सत्सगका जितना आभार माना जाय वह सब थोड़ा है।

हे सत्संग! तुम सत् हो क्योकि सतके सग हो। विषय कषाय भाव वाले पुरुषको संतका उपदेश कड़ु लगता है तथापि यही विश्वास रखना कि हितकर है तो यही है। विपय कषाय वालोका उपदेश, उनकी सलाह बडी प्रिय लगती

विषय कषाय वालोको । ऐसी समभावन पर यह विश्वास करना कि यह अहित ही है ।

पहिले अनेक ज्ञानी संयमियोका संग रहता था । उसमें अनेकोका सत् निर्वाह होता था । सहस्र साधुओके संगसे सहस्रके लाभके अतिरिक्त लाखो गृहस्थोका लाभ होता था । अहो उस समयकी स्थितिकी कल्पना ही बड़ा विचारकोका अनुपम हित कर देती है । धन्य है सत्संगको ।

जब तक भव शेष है, जब तक भव शेष है, सत्सगका लाभ मिलता ही रहे । अन्य सर्व मिलो चाहे न मिलो, अन्य सब बखेड़ा ही है ।

६ जनवरी १९५७

पार्टीके नामसे व्यवहार मत करो । योग्य व्यक्तियोंके व्यक्तित्वके नाते से व्यवहार करो । चाहे किसी पार्टीमे सभी योग्य पुरुष हो तो भी पार्टीका नाम लेकर ही किसी को सपोर्ट करना उदारता व विवेकके प्रतिकूल है । यह असमव है किसी भी पार्टीमें सभी व्यक्ति योग्य हो । अतः जब कोई प्रसंग आवे निर्वाचन करनेका तब यही मार्ग भला है कि व्यक्तिके व्यक्तित्वको जानकर कि यदि वह उदार व बुद्धिमान है निर्वाचन सम्मति दी जावे ।

किसी का भी उपकार करके स्वय को क्या लाभ मिला व मिलेगा ? किसीका चिन्तवन कर उत्पन्न किये विभावोसे क्या लाभ मिला व मिलेगा ? कुछ भी नहीं । अतः किसीके उपकारके लिये परोपयोगी ही मत बने रहो । तुम स्वय सुधर जावोगे तो अन्य जीवोका उपकार स्वय होगा । किसीका चिन्तवन बनाकर अपना आत्मबल मत खोओ ।

प्रत्येक प्राणी प्रत्येकसे भिन्न है । किसीकी परिणतिसे कोई नहीं परिणमता । किसी अन्यको विषय मात्र बनाकर अपने परिणामोको विभावित करनेका फल संसार परिभ्रमण ही है । यदि अलौकिक परम आनन्द चाहते हो तो सर्व इतर अर्थोको भुलाकर मात्र निज आत्मरामका ध्यान बनाये रहो । स्वके आश्रयसे निर्विकल्प स्वका अनुभव प्राप्त होता है ।

स्वयं ही स्व है, स्वयं ही स्वामी है । स्वयं ही वैभव है, स्वयं ही भोक्ता है । स्वय ही सृष्टि है, स्वयं ही स्रष्टा है । स्वयं परमात्मा है,

स्वही भक्त है। स्वकी आराधना करो।

१० जनवरी १९५७

जब आत्मस्वभाव ही उपयोगमें रह जाता है उस कालके अनुभवमें जो आनन्द होता है वह त्रिलोककी सम्पदासे भी प्राप्त नहीं हो सकता है। वस्तुत: सम्पदासे एक अविभाग प्रतिच्छेद प्रमाण भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि सम्पदामें स्वय सुख शक्ति नही है फिर सुख ही उससे कैसे प्रगट होगा। अन्य जीवोंसे भी अपना सुख प्रगट नहीं हो सकता क्योंकि अन्य जीवोका सुख उन्हीं अन्यके प्रदेशमें व्याप्त है, उनके प्रदेशोसे बाहर सुख गुणका ही क्या किसी भी गुणका परिणमन नहीं जा सकता।

सुख आनन्द गुणका परिणमन है। आनन्द गुणका विभाव परिणमन लौकिक सुख और दु:ख है, स्वभाव परिणमन आत्मीय अलौकिक आनन्द है। प्रत्येक ये परिणमन आनन्द गुणका आश्रय कर ही प्रकट होते हैं वे चाहे लौकिक सुख हों या दु:ख हों या आत्मीय आनन्द हो।

सर्व पूर्ण हैं, स्वतः सिद्ध है अत किसी को परिणमने के लिये किसी की बाट नहीं जोहना पडती। प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है, क्योंकि वह पदार्थ है। पदार्थ परिणमता रहता है। यदि पदार्थ मलिन योग्यता वाला है तो मलिन पर्याय रूप परिणमता है, यदि निर्मल योग्यता वाला है तो निर्मल पर्याय रूप परिणमता है। हा परिणमनोंकी यह विशेषता है कि मलिन पर्याय किसी परके अनुकूल अपनी सृष्टि करता हुआ परिणमता जाता है, इस पर भी पदार्थ परिणमने के लिये बाट नहीं जोहता, जो हुआ सो हुआ। निर्मल पर्याय तो स्वभावके ही अनुकूल प्रकट होता चला जाता है।

११ जनवरी १९५७

जब निज स्वभावकी ओर उपयोग रहे वह तो भला समय है। बाकी अर्थात् उपयोगमें परको बसाये वह विपत्तिका समय है।

आत्मा केवल अपने भाव बनाता है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ कार्य इसका है ही नहीं। अजीव द्रव्योमे भी प्रत्येक द्रव्य केवल अपना परिणमन सम्पदामें स्वय सुख शक्ति नही है फिर सुख ही उससे कैसे प्रगट होगा। अन्य करता है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ बात बन ही नहीं सकती

प्रत्येक पदार्थ अपने ही द्रव्य, प्रदेश, गुण, पर्याय रूप है। किसी द्रव्य का द्रव्य अन्य द्रव्य नहीं हो सकता। किसी द्रव्यका प्रदेश अन्य द्रव्यका प्रदेश नहीं हो सकता। किसी द्रव्यका गुण किसी अन्य द्रव्यका नहीं होता और न किसी द्रव्यकी पर्याय अन्य द्रव्यकी हो सकती। प्रत्येक वस्तुका यह चतुष्टय केवल उस अपनेमें है, अन्य द्रव्यके चतुष्टयसे अत्यन्त भिन्न है।

जैसे थोड़ी देरको कल्पना करो कि पुस्तक द्रव्य है और यह चौकी द्रव्य है तो पुस्तकका द्रव्य प्रदेश, गुण व पर्य्याय पुस्तकमे ही है चौकीमें नहीं। फिर यह कहना कि चौकीकी पुस्तक है या पुस्तककी चौकी है यह निरा वेहूदापन है।

चौकी और पुस्तक दोनो स्कंध हैं इनमेंसे अब एक ही स्कंध को पकड़ कर खोज कीजिये। जैसे, इस चौकीमें अनत परमाणु हैं एक २ परमाणु एक एक द्रव्य है। प्रत्येक परमाणुका द्रव्य, प्रदेश गुण व पर्याय उसी एक परमाणु मे है। एकका दूसरेमे नहीं। तब एक परमाणुका दूसरा परमाणु है ऐसा कहना वेहूदापन नही है क्या ?

शरीरका द्रव्य प्रदेश गुण पर्याय शरीरमें है आत्मामें नहीं। आत्माका द्रव्य प्रदेश गुण पर्याय आत्मामें है शरीरमें नहीं। फिर आत्माका शरीर या शरीरका आत्मा कहना वेहूदापन नहीं है क्या ?

१२ जनवरी १६५७

कोई समय न सगुन है, न कोई समय असगुन है। खुदके भावोंमें कमजोरी आना असगुन है और खुदकी भावनाओंका निर्मल बनना सगुन है, क्योंकि बाह्य पदार्थ सुख और दुःख उत्पन्न नहीं करते किन्तु बाह्य साधन हो अथवा न हो सर्वत्र कल्पनासे सुख और दुःख होता है। अतएव शान्तिके लिये अन्तरगमें ही कुछ प्रयत्न करना है। बाह्यमें कुछ नहीं करना व कुछ कर भी नहीं सकते।

आत्मन् ! देखो न खुदको। यह मैं अमूर्त हू, प्रतिभास मात्र हू, सबसे जुदा हूं केवल निज हू। यह मैं अपने आपको ही कर पाता और इस कृतिका फल भी यह मैं, खुद ही हू तथा करता भी इस ही खुदके द्वारा। देखो न ! परिणामके लिये किसीकी बाट नहीं जोहनी पड़ती। परिणमन इसका स्वभाव

है। परिणमता तो निरन्तर यह, मैं हू किन्तु परिणाम जाता वैसा जैसा यह उपयोग आश्रय बनाता है। स्वभावका आश्रय करनेसे निर्मल परिणमन होताहै, विभावका आश्रय करनेसे मलिन परिणमन होता है।

यहा प्रश्न यहहो सकता है कि फिर तुमने स्वभावका आश्रय ही क्यों न पहलेसे कर लिया ? इसका उत्तर तो पहले यह है कि नही किया तभी ता तुम पूछ रहे हो। फिर और सुनो निमित्त और नैमेत्तिक भाव और उपादान-उपादेय भाव दोनो ही बातें ठीक हैं। आत्मा और कर्मका अनादि सम्बन्ध है। कर्मके उदयको निमित्तमात्र पाकर आत्मा विभाव रूप परिणमता है और आत्माके विभावको निमितमात्र पाकर कामाण वर्गणाये कर्म रुप अवस्थाको प्राप्त होती हैं। यह निमित्त नैमित्तिक परम्परा चलती, चली आरही है, सो इस विभावमे उपादान तो वह मलिन आत्मा है व निमित्त कर्मोदय है।

१३ जनवरी १९५७

जीवोकी दृष्टि पर्यायो पर प्राकृतिक है। प्राकृतिकका अर्थ यह है कि कर्म प्रकृतिके उदय अवस्थामें औटोमेटिक (Automatic) है। अब पर्यायो से शुरूकर द्रव्यमे पहुचनेकी शैली ही पर्याय बुद्धि वालोको कार्य-कर है।

पर्यायें दो प्रकारकी हैं—१ अशुद्ध पर्याय, २ शुद्ध पर्याय। अशुद्ध पर्याय भी गुणका परिणमन है और शुद्ध पर्याय भी गुणका परिणमन है। पर्यायें गुणकी अवस्थायें हैं सो पर्यायें गुणसे प्रगट होती हैं। किसी भी पर्याय के सम्बन्धमें यदि यह जानना चाहा जाय कि यह पर्याय किस गुणकी है तो इसका जो उत्तर मिलेगा वह गुण तो मुख्य हो जावेगा तथा पर्याय गौण हो जावेगी। जैसे पूछा कि क्रोध कषाय किस गुणकी पर्याय है तो इसमें उत्तर मिलेगा कि क्रोध कषाय चरित्र गुणकी पर्याय है। अब यहा स्पष्ट है कि इस प्रकारकी चिन्तनामे कषाय तो गौण हो गया व चरित्र गुण मुख्य हो जायेगा।

इसके अनन्तर यह भी जानना चाहा जावे कि यह गुण किस द्रव्यका है तो इसका जो उत्तर आवेगा उसमें द्रव्य तो मुख्य हो जावेगा व गुण गौण हो जावेगा। जैसे पूछा कि चरित्र गुण किस द्रव्य का है तो उत्तर मिलेगा चरित्र गुण आत्माका है। इसमें अब आत्मा मुख्य हो गया और चरित्र गुण

गौण हो गया। इस तरह पर्यायमे उतर कर गुणमे आये और पश्चात् गुणसे भी उतर कर मात्र द्रव्यमे आये। द्रव्यकी दृष्टि सर्वोच्च दृष्टि है। इस दृष्टिका सहारा ही वास्तविक सहारा है।

१४ जनवरी १९५७

प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टयसे सत है। उस चतुष्टयको इन शब्दोमें कह सकते है।

देश	देशांश	गुण	गुणांश
द्रव्य	प्रदेश	गुण	पर्याय
सामान्य	विशेष	सामान्य विशेष	विशेष विशेष
अखंड	स्वक्षेत्र	शक्ति	परिणमन
वस्तु	आकार	शक्ति	शक्त्यंश
अभेद	प्रस्तार	शासन	भग
सत्	प्रचय	लक्षण	स्वकाल
अर्थ	निवास	आकृति	पर
द्रव्य	क्षेत्र	भाव	काल
निष्क्रम	अनुक्रम	शाखा	छेद
सत्ता	विष्कम्भ	प्रकृति	आयत
सामान्य	विस्तार	शील	भेद
तत्त्व	व्यपदेश	एक रूप	विधा
धर्मी	स्वक्षेत्र	धर्म	अविभाग प्रतिच्छेद
प्रधान	प्रसार	प्रकरण	प्रकार
द्रव्य	द्रव्य पर्याय	गुण	गुण पर्याय
विधि	तिर्यगंश	विशेष	ऊर्द्ध्वांश
अन्वय	सहक्रम	स्वरूप	भाग
पदार्थ	व्यंजन पर्याय	अर्थ	अर्थ पर्याय
मूल	व्याप्ति	स्रोत	प्रवाह

१५ जनवरी १९५७

एक माह तक अपनी दिन चर्या ऐसी हो'—

४ बजे प्रात से	५ बजे तक	नियमसारका स्वाधाय
५ बजे से	५॥ बजे तक	डायरी लेखन
५॥ बजे से	६॥ तक	सामायिक
६॥ से	७॥ तक	देवदर्शन पर्यटन, शुद्धि
७॥ से	८। तक	प्रवचन
८। से	८॥! तक	मोक्ष शास्त्र या जैन सिद्धान्त प्रवेशिका अध्यापन
८॥ से	९॥ तक	इंग्लिश शब्द वाचना
९। से	९॥। तक	सभाव्य चर्यार्थ शुद्धि
९॥। से	१०॥। तक	चर्या विश्राम
१०॥। से	११॥ तक	सस्थासेवा पत्रलेख पूछ ताछ
११॥ से	१२॥ तक	सामायिक
१२॥ से	१॥ तक	सम्कृत रचना
१॥ से	३ तक	इंग्लिश रचना
३ से	३॥। तक	धवला ६ वीं पुस्तक स्वाध्याय
३॥। से	४। तक	शंका समाधान
४॥ से	५॥ तक	दुखितसेवा, पर्यटन
५॥ से	६॥ तक	सामायिक
६॥ से	७॥	इग्लिश सहयोग
७॥ से	८। तक	प्रवचन
८। से	८॥	वार्ता
८॥ से	९॥ तक	अध्यात्मिक पाठ
९॥ से	४ तक	ध्यान विश्राम शयन

नोटः—विशेष कार्यवश किञ्चित परिवर्तन हो सकता व जब भ्रमणमें होऊंगा तो सुबह का चलना ६॥ से ८ व सांय ३॥ से ५ बजे तक होगा।

१६ जनवरी ११५७

संसार परिभ्रमणको कहते हैं। अपना २ परिभ्रमण अपना २ ससार

है। परिभ्रमणका अर्थ मात्र अपनी शक्तियोंका विभाव परिणमन है। यही ससार है। यह दुःख स्वरूप है। इस दुखसे बचना हो तो ध्रुव स्वभावका आश्रय लो।

आत्मन्! तू सत् है। है ना। है। जो है है वह ऐसा नहीं होता कि पहले तो कभी है न हो व किसी दिनसे है हो, ऐसा न्याय ही नही। समझे? क्या समझे? यह कि तू है इसलिये अनादि से है। जो है वह किसी न किसी वर्तमानमें (परिणमनमें) रहता ही है। इससे यह निर्णीत हुआ कि इस भवसे पहिले भी तू किसी हालतमें था। उस पूर्व हालत गुजर गई उसका कुछ लाभ यहां हो रहा है क्या? लाभ तो जाने दो, जो विभाव कर डाल थे व उसके निमित्तसे जो कर्म बन्ध हो गया था उसके परिणाम स्वरूप आज यह दशा है कि तुम स्वभावमें स्थिर नही हो पाते। अब अन्दाज करलो—यह भव याने यह हालत क्या तुम्हारे कुछ काम कर सकेगी? नहीं, यह तो मिटी सो मिट ही गई, यह और हो जायगा कि जो तुम विभाव कर रहे हो और उसके निमित्तसे जो कर्म बन्ध हो रहा है, उसके परिणाम स्वरूप तुम व्याकुलता और पावोगे।

अब चेतो, जो समय गया सो गया। जो समय बचा उसका सदुपयोग करो। किसी भी समय मलिन परिणाम न आवे। किसीके निमित्तसे कोई क्लेश याने सक्लेश परिणाम होता हो और व्यवहारमें आपके अधिकारमे हो तो स्पष्ट कहकर सक्लेशके पापसे बचना। अन्ततो गत्वा उपेक्षासे काम सरेगा।

१७ जनवरी १९५७

आज मढियासे चलकर ८ मील पर सूखा गाव आये। जनपद स्कूलमें ठहरे। अध्यापक और छात्रों का व्यवहार उत्तम मिला। प्रायः ग्राममें ऊपरी सभ्यता तो नहीं किन्तु अक्सर अन्तरङ्ग निष्कपट स्नेह प्रतीत हो जाता है।

मनुष्य जन्म एक दुर्लभ जन्म है। इसका सदुपयोग विषय कषायोसे बचकर स्व आत्म स्वभावके उपयोगमें है। इसे न किया तो जन्म व्यर्थ है, व्यर्थ ही नहीं किन्तु उलटा अनर्थकारी होगा।

जब विषय कषायका परिणाम होता तब इस प्राणीको यही ठीक जचता

और वह यही मानता कि मै हित और सुखकी बात कर रहा हू। किन्तु यही तो एक धोका है। वह मलिन परिणाम मलिन ही है ऐसा ध्यान रखना ही पहिली विजय है उस मलिन परिणामसे उपयोग हटकर स्वभावनामे उपयोग का रम जाना दूसरी विजय है।

आत्मन्! अपने पंथसे चले चलो इन्द्रिया तुम नहीं हो, इन्द्रियोके विषय तुम नहीं हो। मन तुम नहीं हो, मनके विषय तुम नहीं हो इनमे किसी भी जगहमे रमना ही महा मूर्खता है।

हे प्रभो! हे निज नाथ। रहो सावधान और समाधान निजकी ओर। अधिक बोलना आत्मबल बरबाद करना है, अत बोलो अधिक मत।

हे प्रभो! रहो सावधान और समाधान निजकी ओर। अधिक सोचना आत्मबल बरबाद करना है, अत सोचो अधिक मत।

अनिश्चित वृत्ति और कुछ यह करना और कुछ यह करना किसी एक ओर दृढ़ता न रखना भी एक कमजोरी और हानि है। इसके फल स्वरूप आत्मकल्याणकी वृत्तिमे भी कुछ रुका रोग रहनेसे सफलता नही मिलती। आत्मकल्याण करो तो करो दृढ होकर, फिर उपयोगमें आत्म कल्याणके विरुद्ध अन्य कुतत्व पर दृष्टि न दो।

१८ जनवरी १९५७

आज प्रात ६॥ बजेके अनन्तर सूखासे चले ५॥ मील पर नूनसर आये पञ्चाध्यायीका विषय समझने पर इतनी योग्यता हो जाती है कि अध्यात्मिक विषय स्पष्ट समझमे आ जाता है। अध्यात्मिकता समझमें आ जाय, प्रतीतिमे आ जाय यही सर्वोपरि व्यवसाय है।

एक द्रव्यके द्वारा किसी अन्य द्रव्यकी रचना नहीं होती, एक द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका परिणमन नही कर सकता क्योकि समस्त द्रव्य स्वय स्वभावसे सिद्ध हैं।

द्रव्य यदि कुछ कर सकता तो वह अपनी ही पर्याय कर सकता है, क्योंकि द्रव्यका जो कुछ होता है उसके निज क्षेत्रमें (प्रदेशमें) होता है। किसी भी द्रव्यका परिणमन किसी भी अन्य द्रव्य में नहीं होता।

एक द्रव्यका अन्य कोई द्रव्य कुछ भी नहीं है। एक आत्माका अन्य

आत्मायें व समस्त अजीव कुछ भी नही हैं। उन्हें अपना मानना अज्ञान है यह अज्ञान महान् दु'ख है।

एक चीज अखड होती है याने सभी वस्तुयें अखंड होती हैं। द्रव्य सत्य है। द्रव्य सत् है उसे ही-शक्तिकी दृष्टिसे देखो तो गुण सत् है उसे ही परिणमनकी दृष्टिसे देखो तो पर्याय सत् है। कही ऐसा नही है "कि द्रव्य सत् न्यारा है, गुण सत् न्यारा है"।

द्रव्य अखड है उसे अभेद वाले दिमागसे देखो। जब भेद वाले दिमागसे देखो तब उसमे गुण प्रगट होते हैं यह भी दिमागमे, वस्तुमे तो जो है वह अखंड है। जब अभेद वाले दिमागसे देखो तब गुण डूब जाते हैं, द्रव्य मुख्य ही रह जाता है। भेद वाले दिमागसे देखने पर पर्याय प्रगट होती है। अभेद वाले दिमागसे देखने पर पर्याय डूब जाती है।

१६ जनवरी १६५७

आज प्रातः पाटनसे चलकर ८। बजे कौनी आये। यह क्षेत्र पहाडी और नदीके बीच स्थित है। स्थान सुरम्य है।

लिखना बोलना ये सब आत्म-स्वभावके विरुद्ध क्रियायें हैं। इन क्रियावोंका उपयोग खेद कारक विभाव है। लिखना बोलना परकी ओर उपयोग भ्रमाता है। तभी तो देखो ना-जब उपयोग आत्माकी ओर जाता है और आत्मामे रमनेको होता है तब लिखना बोलना अस्फुटित होकर पश्चात् बन्द हो जाता है।

जिनका उपयोग सर्वथा पवित्र होकर स्वभावमें एकमेक हो गया है उन परमात्मावोका वचन तो ध्वनि रूप ही रह जाता है। किन्तु उनके होती है ध्वनि जो अघातिया कर्मोंके विशेष उदय रहने तक रहती है तथा वह ध्वनि विशेष अतिशय सम्पन्न होती है।

संसार भाव अति दुःख रूप है इसके रहते हुये गौरव रखना महती मूर्खता है। संसार भावके वर्तनेपर पछतावा रहना चाहिये। यदि पुण्योदयसे ऐसा वातावरण पाया हो कि तुम्हारी गलतियोके होते जाते हुए भी लोग विरुद्ध बात न कह सकें तथापि यह न समझना चाहिये कि ये गलतिया निष्फल जावेंगी। गलत परिणामोके कालमें भी संक्लेश रहता है और उस कालके

परिणामोंके निमित्तसे कर्मत्व अवस्थाको प्राप्त कार्माण वर्गणावोंके बन्धन हो जाते हैं। उनके उदय कालमें भविष्यमें भी सक्लेश होगा। अतः प्रत्येक समय अपने परिणामोको निर्मल रखना चाहिये। सदा विनय शील रहना चाहिये। इसका यह अर्थ नही है कि धर्मके नाम पर यथा तथा भावोंको रखकर कोई अपनेको पूज्य घोषित कराये और चाहे उसे भी अपना समर्पण कर देना।

धर्मके ढोंगियोंके अतिरिक्त प्रत्येक पुरुषसे अपना विनम्र व्यवहार रखना विनय है और यथार्थ धर्मात्मावोंके गुणोंमें अनुराग होना उत्तम विनय है।

२० जनवरी १९५७

सम्यक्त्व नाम गुणका भी है और पर्यायका भी है। प्राचीन ऋषियो की पद्धति भी यही थी कि वे जब उस गुणको जिसकी पर्याय सम्यक्त्व मार्गणाके भेदों रूप वर्ता करती है बताना चाहते थे तब सम्यक्त्व कहकर बताते थे। इसमें असमञ्जसता भी नहीं है। जैसे संयम, असंयम, कषाय, अकषाय चारित्र मिथ्या चारित्र आदि पर्यायोंके स्रोत रूप गुणको चरित्र नाम से कहा गया है व ज्ञान, मिथ्या ज्ञान रूप ज्ञान पर्यायोंके स्रोतको ज्ञान शब्द से बताया है।

सम्यक्त्व नाम गुणका भी और सम्यक्त्व नाम सम्यक्त्व पर्यायका भी है। इनमें कभी किसीको धोखा न हो जाय इस सुधारकी दृष्टिसे सम्यक्त्व व मिथ्यात्व पर्यायके स्रोतको श्रद्धा शब्दसे कह देना भी अनुचित नहीं है।

मानवका जीवन ब्रह्मचर्य है। शरीरकी शक्ति वीर्यमें सञ्चित है जैसे आत्माकी शक्ति चित्समवेत वीर्यमें सञ्चित है।

योगीका सर्वस्व वैभव ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य सर्व शीलोंको कहते हैं। ब्रह्मचर्य गया तब शील भी गया।

ब्रह्मचर्य खोनेवालेके सत्य और अहिंसा भी रह नहीं पाते। अतः धर्म का पिता भी ब्रह्मचर्य है।

लौकान्तिक देव देवर्षि कहलाते हे इसका कारण ब्रह्मचर्य है। श्री ह्री आदि ५६ कुमारिकाओंके प्रति देव देवेन्द्रोंका भी आदर है यह ब्रह्मचर्यकी महत्ताका द्योतक है।

ब्रह्मचारीको सदा शुचि कहा गया है। ब्रह्मचर्यकी महिमाके गानसे ब्रह्मचर्यके परिणामसे पूरित धार्मिक ग्रन्थोके समुदाय हैं।

२१ जनवरी १९५७

आज शामको ४ बजे कौनीसे चले और ५॥ बजे पाटन पहुंचे।

मनुष्य जीवनको सुगम और ससुख बिताना हो तो सर्व प्रथम कला शिष्ट वचन बोलनेकी है। जिसे वचन बोलनेकी कला भी याद नही है उसका जीवन बेकार है। इस आदतको बनानेमें सहायक ज्ञान है। बाह्य पदार्थमे ममता न हो तो वचन व्यवहार उत्तम हो सकता है। वचनकी उत्तमता कहो व विनय पूर्ण वचन कहो, प्रायः एक ही बात है।

वचन कला उत्तम पानेके लिये कम बोलनेका अभ्यास करना चाहिये। मौनमे कुछ समय बीते तो वचन व्यवहार पर विजय प्राप्त हो सकती है।

वचन बाणका घाव लोह बाणके घावसे अधिक होता है। दुर्वचनसे वक्ता भी दुखी होता है श्रोता भी दुखी होता है और फल उसका बुरा होता है सद् वचन व्यवहार सर्वत्र रक्षक है। जिसे वचन बोलना नही आता है वह कौन है? पशु है। देख वचन बोलना पशुको नही आता है। पशु तुल्य जीवन क्या मानव जीवन है।

कुछ चाहना हो न कुछ रह जानेका मन्त्र है। कुछ न चाहना ही सब कुछ बननेका मन्त्र है। कुछ चाहनेका फल सक्लेश, मायाचार और वचन भग है। कुछ न चाहनेका फल चित्तदाढर्य, संतोष, सरलता और सद्वचन व्यवहार है।

हे आत्मन! आयुके क्षण निरन्तर बहे जा रहे हैं। जो हित करनेका पथ अनुसरना हो तो जल्दी अनुसर।

हे आत्मन! कुपरिणाममे एक क्षण भी व्यतीत न हो ऐसा विवेक रख।

२२ जनवरी १९५७

आज प्रातः ६॥ बजे पाटनसे चले ८ मील पर नूनसरमे चर्या की। दुपहरको १ बजे चल कर ९-२ मील पर मढिया आये शामको ५। बजे तक। साथमे श्री सि० मुन्नीलाल जी गोटे गांववाले व श्री गोकुल चन्द जी

पुर वाले रहे। लोग थक गये किन्तु उत्साहमें आराम नहीं किया।

सर्व मत परिग्रह क्लेश का कारण है। अभ्यन्तर परिग्रह मूर्च्छा है। इस मूर्च्छाके रहने पर बाह्य परिग्रह परिग्रह हो जाता है। मूर्च्छा त्याग बिना संसार नहीं तिरा जा सकता।

शरीरको कायक्लेश वाली स्थितिमें रखना इस लिये तप है कि इस स्थितिमें विषय कषायके भावको अवसर नहीं मिलता। काय क्लेश तप व्यर्थ नहीं है। कायसे स्नेह करते हुए, कायको आराममें रखते हुए, अथवा आराममें रखनेकी इच्छा करते हुये अनन्तकाल व्यतीत हो गया किन्तु लाभ की बात तो दूर रही क्लेश ही क्लेशका सघर्ष मिलता रहा अतः कायको नाना तपस्याओंमें लगा दो।

विपदायें तो कुभाव हैं उन्हें दूर करना है इसका उपाय उपयोगको सही बनाना है उपयोगकी समीचीनताके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ऐसा नहीं है जो विपदाको दूर कर सके।

विषय कषायोंसे निवृत्त होकर सहज चैतन्य स्वभावी [illegible] उपयोगका रहना सही रहना है। जब जब विषय कषायका परिणाम होता है तब तब पूर्व बद्ध पापकी उदीरणा हो जाती है व तीव्र उदय हो जाता है, साथ ही अनेक पाप प्रकृतियां बंध जाती हैं। कदाचित पूर्व पुण्यकी तीव्रतामें बचा रहा भी हो परन्तु यह निश्चित है कि अनायास कभी भी पापकी उदीरणा व तीव्र उदय हो बैठेगा। अतः परिणाम सदा सावधान रूप रखना।

२३ जनवरी १९५८

[illegible] है। [illegible] हो जाता है [illegible]

[illegible] का कारण है। [illegible]

दुख भोगता हैं।

वर्तमान दुखका साक्षात कारण तो उसकी वर्तमान समयका परिणाम है किन्तु वह उस कर्मके उदयको निमित्त पाकर हुआ जो कर्म पूर्व समयमे परिणामोको निमित्त बन्धनको प्राप्त हुआ था। अत. यह कहना भी अनुचित नही है कि वर्तमान दुखका कारण पूर्व समयका परिणाम है।

वर्तमान दुखके साक्षात कारण वर्तमान परिणामका व्यय भूत परिणाम स्वभावाश्रियक शुद्धोपयोग है अतः दु'खका विनाशक तात्कालिक शुद्धोपयोग है। सर्व दु'ख नाशक शुद्धोपयोग है। शुद्धउपयोगको शुद्धोपयोग कहते है। शुद्धके उपयोगको भी शुद्धोपयोग कहते हैं।

शुद्धोपयोग, साम्य, समाधि, स्वास्थ्य, योग्य, स्वभावाश्रय आदि सब एक उस ही मर्मके सूचक हैं।

२४ जनवरी १६५७

आत्माके परके प्रति व्यामोहकी परम्परा अनादिसे चली आई है। इसका विनाश प्रबल भेद विज्ञानके विना नही हो सकता है। अत. निरन्तर भेद विज्ञान बनाये रहनेका लक्ष्य जिनके है अथवा जिनकी नैसर्गिक वृत्ति इस ओर है वे अपने उपयोगको निर्मल बनाये रहने मे सफल हो सकते हैं।

आत्मन ! ध्यान रक्खो अपने उपयोगकी निर्मलता न बिगडे ऐसा ही उपाय करो। एतदर्थ बुद्धि पूर्वक उपाय—सत्समागम, स्वाध्याय, भेद विज्ञान, द्वादश भावना आदि है। हे आत्मन। तेरा यहा कोई शरण नही है। तेरे सिवाय समस्त आत्मा तेरेसे अत्यन्त पृथक है। उनकी ओर उपयोग देकर अपने आत्म पर अन्याय मत करो। यह मनुष्य जन्म बडी कठिनाईसे प्राप्त हुआ है। इसे पाकर यदि ऐसा कार्य न किया जिससे समस्त २ दु'खोसे निवृत्ति रूप मोक्षका मार्ग न पालिया जावे तो खबर नहीं है कि दुर्गति ही हाथ रहेगी।

मनका विकल्प क्षणिक है यद्यपि अनुभवके अर्थ अन्तर्महूर्त तक होने वाली पर्यायीका अन्तर्महूर्त तक होने वाला उपयोग उन्हे अनुभवता है फिर भी यह द्रव्य स्वभावके कारण सुनिश्चित है कि परिणमन प्रति क्षण होता रहता है।

मनके विकल्पमे मत वह जाना। विकल्प तो होकर स्वरिति नष्ट हो जायेगा किन्तु विकल्प में बह जानेकी निमित्त पाकर हुए कर्म बन्धोका विपाक चिरकाल तक दुखी होनेमे निमित्त बन जायेगा।

आत्मन्! अपनी शक्तिका सदुपयोग कर। विषय कषायके उपयोगसे अपनेको बरबाद मत कर। तेरी शक्ति अनुपम है जिसकी भक्तिके प्रसादसे परमात्मा हो जाता है।

२५ जनवरी १९५७

व्यर्थका उद्यम छोडो और सुखी होओ

आत्मन्! क्या कष्ट है, जिससे अपनेको परेशान अनुभव करते हो। व्यर्थके उद्यम मनमें बसाये कोई, तो दुःखी होना प्राकृतिक है। परन्तु तुम में स्वयमें कोई विपदाकी बात नहीं और न तेरा विपदाका स्वभाव है। जो जैसा है वैसा मानते जावो फिर दुःखका कोई काम ही नहीं।

लोक शरीरको स्वस्थ रखना चाहता है किन्तु आत्माको स्वास्थ पर कोई लक्ष्य नहीं विधि विधान, निमित्त नैमित्तिक भावकी दृष्टिसे देखो तो आत्माके स्वास्थ पर शरीरका भी स्वास्थ निर्भर है। आत्मा स्वस्थ है तो या तो शरीर स्वस्थ रहेगा अथवा शरीर ही न मिलेगा फिर दुःस्वास्थ्यका झगडा ही समाप्त है।

कोई किसीको तुच्छ न समझे जो समझ में आता है वह तो पर्याय है। आज पर्याय किसीकी निम्न है तो कभी उच्च हो जावेगी। अथवा ऊंच नीच अवस्थामें क्यों निरखते हो? यह उद्यम छोडो यदि ऐसे ही निरखोगे तो ऐसे ही बने रहनेकी संतति प्राप्त होगी। सब मे चैतन्य सामान्य देखो और देखो प्रभुको जो कि कारण परमात्मा है सहज स्वभाव है।

मन तो जड है तब मनके निमित्तसे जो परिणाम बनेंगे आत्मामें हुये इससे चाहे जड न कहो किन्तु स्वभाव का मुकाबला करो तो वे जड हैं। जडसे ममत्व न करना यानि विचार विभावसे ममत्व न करना। विभावोकी ममता जगतमें ममता की जननी है। विभावका ममत्व छूटा कि जगतका भी ममत्व छूट जायगा। व्यर्थका उद्यम छोडो, अपनी भूल संभालो।

श्री प्रोफेसर लक्ष्मीचन्द जी जैन एम, एस सी जबलपुर बहुत ही

सज्जन प्रिरुप हों। इतने महान होकर भी अपनेको बालवृन्द अनुभव करते हैं यह उनकी खास विशेषता है। आजकल ये मार्पेक्षवाद पर रिसर्च कर रहे हैं यदि इनके रिसर्चमे कोई विघ्न न उपस्थित हुआ तो कल्याणेच्छुओंको एक बड़ी देन इनकी प्राप्त होगी।

२६ जनवरी १९५७

गणतन्त्र और स्वतन्त्रके अर्थ जुदे हैं, प्रयोजन भी जुदे हैं। गणतन्त्रता में एक कार्य जबकि समूहके आधीन है तब स्वतन्त्रतामे स्वका कार्य स्वके आधीन है।

वास्तविक स्वतन्त्रता तो स्वच्छता है। जहा परके संयोगको पाकर कोई उसके अनुकूल प्रभावित होनेकी बाध्य न हो वह है स्वतन्त्रता। स्वतन्त्रता निर्मल परिणमन में है। मलिन परिणमनमे तो परतन्त्रता ही है। मलिन परिणामको मलिन, अहित समझना मलिन परिणामसे मुक्ति पानेका आद्य प्रयोग है।

लोक मलिन परिणाममें ही आसक्त होकर अपना हनन करता है। मलिन परिणाम पर्याय हैं सो वह एक समयमें होकर नष्ट हो जाता है। उसके मोहसे आत्माको क्लेश परम्परा ही प्राप्त होती है।

निर्मल परिणाम भी पर्याय है। वह भी एक समयमें होकर नष्ट हो जाती है। परन्तु अनैमित्तिक भाव है अतः वैसी ही वैसी निर्मल पर्याये उत्तरोत्तर होती रहती हैं। निर्मल पर्याय वह है जहा मोह राग द्वेष नहीं। जहा मोह राग द्वेष होता है वहा उसके विपर्ययका बना रहना अनिश्चित है। जहा मोह राग द्वेष नहीं उस पर्यायका निरन्तर प्रवाह चलता रहता है। देखो तो मर्म और विचित्रता। जिसे चाहो वह अपने अधिकारमें नहीं रहता और जिसे न चाहो वह अपने अधिकारमें रहता है।

श्रीमंत अरहंत भगवन्त कृपालु संत लोकमे सर्वोच्च आत्मा है जिसका ज्ञान, दर्शन सुख वीर्य अनन्त प्रगट हुआ है और अनेक भव्यात्माओंके हित के निमित्त है।

२७ जनवरी १९५७

कोई विकल्प न उठे इससे बढकर अन्य कुछ वैभव नहीं और न

अन्यत्र आनन्द है सर्व ही अन्य हों तो पर है। उस सर्वसे मिल ही क्या सकता है. छोडो सर्व परके विचारोको। छोडो सर्व विकल्पो को। छोडो जगतमें कुछ रुच जानेकी भावनाको। मानलो कि मैं इस पर्यायमे ही नहीं हू, कल्पना करो तुम अन्य पर्यायमे होते तो यह बात ठीक थी ना। अब इसे वैसे ही मिल गई ऐसा जानकर, लौकिक हिसाबसे नही मिली ऐसा समझकर इस भावको ज्ञान, ध्यान, तपमें गुजार कर अपना समय सफल करो।

फास तनकसी तनमे साले, चाह लगोटीकी दुःख भाले। सर्व कुछ दिखाऊ चीज छोड चुकने पर भी यदि वतमान विभावकी उन्मुखता पकड नहीं छूटी तो वाह्य चीजो या न रहना दोनो बराबर हैं क्योंकि आकुलता व कर्मबन्ध वाह्य चीजसे उत्पन्न नही होती। आकुलताका अन्तरग कारण चाह है और कर्म बन्धका निमित्त कारण आत्म परिणाम है।

वाह्य वस्तुका आश्रय बनाया जावे तो वाह्य वस्तु आकुलताका उपचार कारण है। कर्मोदय आकुलताका। अन्तरग कारण आत्माका विभाव परिणाम है। विभावकी पकड तीव्र आकुलताका कारण है।

कर्म वन्धका अन्तरग कारण वे ही कार्माण वर्गणाये हैं जिनकी कि बन्ध अवस्था होती है। कर्मबन्धका निमित्त कारण आत्माका विभाव परिणाम है। विभाव परिणामका व्यामोह तीव्र कर्म बन्धका कारण है।

कितने ही लोग कर्मको कोई मेटर (पुद्गल) नहीं मानते हें किन्तु आत्माके परिणाम ही कर्म हें सो जो जैसा परिणाम करता है वह वैसा फल पाता है इतना मानते हे। यद्यपि यह सत्य है कि जो जैसा परिणाम करता है वह वैसा फल पाता है। तथापि आत्मा जब कर्म पुद्गल बिना अकेला है तब उसमे विभाव परिणामका आना कैसे सम्भव है।

यदि केवल आत्मामें विभाव परिणामको सभव माना जावे तो विभाव सदा रहना चाहिये और एक सा रहना चाहिये। सो है नहीं, अत कर्म पुद्गल वास्तवमे ससारी आत्माके साथ है।

२८ जनवरी १९५७

आत्माकी स्वभाव दृष्टि तो माता है, निर्मल आत्माकी जननी है, भेद विज्ञान पिता है निर्मल पर्याय कारण है, वैराग्य मित्र है, विपदाओंसे

पचाने वाला है, विवेक बन्धु है, क्षमा बहिन है, स्वानुभूति रमिणी है।

आत्मन्! तेरी कम्पनीमे कितनेही बड़े २ साधु संत भी हारे, जो भी बडोंकी कथा है वह तेरी भक्तिकी कथा है। आत्मन्! तू आनन्द व ज्ञानका पुञ्ज है इसीसे तू सच्चिदानन्द है, तेरा ध्यान नियमसे अद्भुत, स्वायत्त आनदका उत्पादक है।

आत्मन् तेरा ध्यान रहे तब जगलका वास भी भला, अनशन होते रहना भी भला, अन्य जीवोके द्वारा आया उपद्रव भी भला, परन्तु तेरे ध्यान बिना महलोका रहना भी अग्नि वास है, सुस्वादु भोजन विष भक्षण है, अन्य जीवोके द्वाराकी जाने वाली सेवा कांटोकी सेज है।

आत्मन्! तेरी भक्ति रहे, उपासना रहे उससे बढकर कोई विभूति नही। तेरी उपासना धनी सम्राट भिखारी ही तो हैं। परम संतोष आत्म-लीनतामे ही है, अन्यत्र है ही नहीं। सबसें बडी जो बात है वह तुम्हींमें तो है न देखो, न मानो, न जानो तो इसमे अपराध किसका?

इससे बढकर आलस्य और क्या कि बना बनाया स्वतः सिद्ध) स्वभाव का स्वाद नहीं लिया जाता। इससें बढकर भोंदूपना और क्या कि पास ही क्या खुद ही खुद इस बडे वैभवका पता ही नहीं किया जा रहा है। इससें बढकर और उद्दण्डता क्या कि दर्शनोपयोग द्वारा अनन्तोवार अनुपम यह भेंट हाथ दिये जाने पर भी तिरस्कृत किया जा रहा है।

आत्मन्! दुर्भाग्यके दिन गये, अब सत्समागम मिला, बुद्धि प्राप्त हुई, अनेको बीतराग ऋषियोकी अनुभूत औषधियॉ मिल रहीं फिर भी ससार रोगका रोगी रहा तो समझदार तो यही कहेंगे कि धत्त तेरीकी।

२६ जनवरी १६५७

आत्म ध्यान कठिन नहीं, विभाव छूटना कठिन नहीं क्योंकि सबका उपाय मात्र जैसा है तैसा जानना है। यथार्थ ज्ञान भी कठिन नहीं, बस ज्ञान करने लगो। ज्ञान करनेका प्रयास भी कठिन नहीं क्योकि इतनी योग्यता आज प्राप्त है। उक्त सर्व सिद्धि कठिन असैनीके लिये कहो तो वहा कठिन ही क्या उस अवस्थाके रहते हुये असंभव ही कह डालो।

ज्ञानका प्रयास करो तो ज्ञान करना सरल है, न प्रयास करो तो ज्ञान

कठिन क्या, इस पुरुषार्थ हीनताकी दशा रहते हुये असंभव है।

इन्द्रियोंकी दासता न रहे यह सबसे महान् पावन पुरुषार्थ है। यह ज्ञान बिना असाध्य है। अनादि अन तक अनेक पाप हुए, उन सबको भस्म कर देनेका बल ज्ञान मात्रमें है। आत्मामें द्रव्य होनेके कारण प्रति समय कोई न कोई पर्याय रहती है और एक पर्यायके रहते हुए वह ही है अन्य कोई पर्याय नहीं हो सकती। तब यह तो प्रगट सिद्ध ही है कि ज्ञान भावनाकी पर्यायके रहते हुए एक भी पाप भाव नहीं है। ज्ञानोपासनाकी स्थितिमें पाप परिणाम द्वारा बद्ध कर्मोंको छाया छाया न मिलनेसे उनका टिकना कठिन हो जाता है अतः अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ज्ञानोपासनाकी अभिन्न परिणतिके निमित्त को पाकर चिर संचित कर्म निर्जराको प्राप्त हो जाते हैं, इसमें सदेहको कोई स्थान नहीं है।

हे आत्मन् न देख दुनियां की ओर। जो दिखता उनसे तेरी आत्मा को क्या मिलेगा। कुछ नहीं, क्योंकि आत्म द्रव्य उन सबसे अत्यन्त न्यारा है। सर्व पदार्थ अपने अपने चतुष्टयमें परिणत होते हैं। कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य पर असर नहीं डालता किन्तु यह परिणममान वस्तुवोंकी विशेषता है कि वह किसको निमित्त पाकर कैसा परिणाम जावे। वस्तु स्वभावकी पहुंच जीवकी अनुपम विभूति है।

होता स्वय जगत परिणाम। मै जगका करता क्या काम।

३० जनवरी सन् १९५७

अपनी सच्ची प्रसन्नतामें ही आनन्द है।

जीवनका विश्वास क्या कब तक यह मनुष्य जीवन है, पानीके बबूले का विश्वास क्या कब तक वह ठहरा रहता है। बबूलेके ठहरनेमें आश्चर्य है नष्ट होनेमें आश्चर्य नहीं, मनुष्य जीवन अब तक बना रहा इसमें आश्चर्य है उसके नष्ट होनेमें कोई आश्चर्य नहीं।

जब तक जीवन है—जो करना हो झट करो। क्या करना उत्तम है? धन जोड लेना। नहीं, यह तो सब यहीं पडा रह जावेगा। इज्जत बढा लेना। नहीं इज्जत करने वाले भी यहीं रह जायेंगे। इज्जतकी चेष्टा इज्जत करने वालोकी परिणति है। और इज्जत मानना इस मरने वालेकी परिणति है।

मरणके बाद इज्जत करने वाले साथ नहीं जाते और न इनकी चेष्टाका कुछ भी निमित्त बहा बनता। इज्जत माननेकी परिणतिमे जो पाप कर्म कमा लिया जाता उसका फल उसे परलोकमे मिलेगा और इज्जत माननेकी स्थिति स्वप्न ही रह जायगी।

इस जगतमे किसीका कोई शरण नही यानी किसीका कोई कुछ नहीं करता। होना भी यही चाहिये अन्यथा सर्वनाश हो जायगा। सबका लोप हो जायगा। सर्व सर्व इस लिये है कि प्रत्येक अपने चतुष्टयसे बाहर नही जाता। प्राणी मान्यतामे अपने चतुष्टयसे बाहर चला जाता इसी लिये आज तक ससार भ्रमण कर रहा है।

परकी चेष्टावोसे अथवा परके प्रसन्न करनेके प्रयाससे स्वयको कुछ लाभ नही मिलता परकी विरुद्धतासे अथवा परकी अप्रसन्नतासे स्वयंको कुछ हानि नहीं पहुचती।

अपनी प्रसन्नतासे अपना लाभ है। अपनी अप्रसन्नतासे अपनी हानि है। प्रसन्नताका सही अर्थ निर्मल स्वच्छता है, इसीमे सत्य आनन्द है। ॐ, सच्चिदान्दाय नमः ॐ नमः सच्चिदानन्दम्।

३१ जनवरी १९५७

कुछ भी विचार आते हो, उन सभीका निरोध कर देना आत्मीय आनन्दके विकासके लिये श्रेयस्कर है जिसका विचार हो वह मेरा क्या सहाय करेगा? आत्माका भी विचार आता हो तो विचार रूपमे समझा गया आत्मा विचारमें समाई न हो पानेरे वह पर है।

मनुष्य भव दुर्लभ है इसे विषय कषायोंमें पास नहीं करके निर्विकल्प निज ध्यान द्वारा पास कर देना बुद्धिमानी है।

आत्माका एकत्व स्थानका एकत्व परिणमनका एकत्व, स्वभावका एकत्व, सभी एकत्व श्रेय है। परन्तु कमजोरीकी हालतमें सत्सगति आवश्यक है।

किसीको अपना मत समझो अर्थात् अपनेको सबसे न्यारा समझो, परमे कुछ करनेकी चाह, परसे अपनेमे कुछ आ जानेकी कामना ये दोनो मिथ्या बुद्धिके फल हैं।

यद्यपि लोकमे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है फिर भी निमित्त उपादान मे कुछ करना नहीं है किन्तु उपादान निमित्तको पाकर उस प्रकार परिणमता चला जाता है।

तुम्हारा अन्य पदार्थोंसे आश्रय आश्रयि सम्बन्ध है फिर भी आश्रयभूत अन्य पदार्थ तुम आश्रयीमे कुछ करता नहीं है किन्तु तुम परको आश्रय बनाकर इस रूप परिणमते चले जाते हो।

निज पर्यायमे वहोमत अर्थात् पर्यायको स्वय मत समझ जावो। पर्याय तुम्हारा क्षणिक परिणमन है। पर्यायके कालमें तुम पर्याय मात्र हो परन्तु तुम पर्याय मात्र ही तो नही हो। तुम ध्रुव चैतन्य स्वभाव हो।

१ फरवरी, १९५७

सत्य तो सदा सत्य ही रहता है। सत्य न माननेसे कही सतका, सत्य समाप्त नही हो जाता। सत्य और अहिसा कहनेको २ चीज हैं - वस्तुतः जो सत्य है वह अहिसा है जो अहिसा वह सत्य है। सत्यका अर्थ है सतिभव सत्यम्, जो सत याने वस्तुमे स्वतः सिद्ध है वह सत्य है, और अहिसा अर्थ है हिनस्ति इति हिसा, हननत्व हिसा, न हिंसा इति अहिसा। जो नष्ट करना है वह हिंसा है। कोई वस्तु किसी वस्तुको नष्ट नहीं कर सकता जैसे कि कोई वस्तु किसी वस्तमें कुछ उत्पन्न भी नही कर सकता। नष्ट कर सकता है तो अपने ही परिणमनको और उत्पन्न कर सकता है तो अपने ही परिणमनको। परिणमन मात्र तो अपना स्वभाव है इस पूर्व परिणामका नाश और उत्तर-परिणमनका उत्पाद होता है। इस नाशसे हिंसाका दिग्दर्शन नही होता तब अहिंसाका भी प्रतिबोध नही होता।

यहाँ यह तात्पर्य लेना है कि जो परिणमन स्वभावके अनुरूप स्वाभाविक वासका बाध है वह परिणमन तो हिंसा है और स्वाभावानुरूप परिणमन बाधा न आना अहिंसा है।

इस प्रकार सत्य और अहिंसाके स्वरूपमे कुछ अन्तर न आया वस्तुमें सत्य व अहिंसाकी विजय स्वाभाविक है क्योंकि सत्य और अहिसा निरपेक्ष सब अनैमितिक है।

जिन्हें सत्यका आदर नहीं वे असत्य बनकर ससार भ्रमण बढाते हैं

किन्तु जिनके सत्यका आदर है वे सब माया जालसे मुक्त होकर स्वय सत्य स्वरूप बन जाते हैं।

जिनके अहिंसाका आदर नहीं वे स्वय स्वयंकी हिंसा करते हुये क्लेशके पात्र होते हैं और जिनके अहिंसाका आदर है वे सर्व विकल्प एवं क्लेशोसे मुक्त होकर साक्षात अहिंसामय हो जाते हैं।

२ फरवरी १९१८

द्वादश भावना

दृश्य मान समस्त जगत पर्याय है, अनित्य है, अहित है।

ध्रुव स्वभावी आत्म तत्व द्रव्य है, नित्य है उसका आश्रय हित है।

मित्र, बन्धु, देव, सेवक आदि मुझ आत्माको शरण नही है।

ध्रुव चैतन्य स्वभावमय आत्मतत्वका आश्रय मुझे शरण है।

परिग्रह रूप द्रव्य ससार और राग द्वेष रूप भाव संसार दु:ख रूप हैं।

समस्त संयोग और सयोगी पृथक असंसार चैतन्यभाव आनन्दरूप हैं।

पर पदार्थ और पर भावोके एकत्वका अभिप्राय परिभ्रमण कराने वाला है।

निज स्वभावके एकत्वका दर्शन स्वमे स्थिति कराने वाला है।

अन्य द्रव्य मे कुछको अपना इतरको अन्य मानना समता स्वरुपके विकास का बाधक है।

निज चैतन्य स्वभावसे विलक्षण सर्व द्रव्य व भावोको अन्य मानना स्वभावाश्रयका साधक है।

स्वभावसे विपरीत विभावोका—जो कि हैं—आदर करना अशुचि पर्यायका कारण है।

स्वत शुचि निज चैतन्य स्वभावका आदर करना शुचि पर्यायका कारण है।

रागद्वेष मोह रूप आश्रव भावोमे रुचि होना विभाव संततिकी दृढताका कारण है।

स्वत: निराश्रयरूप चैतन्य स्वभावमे रुचि होना विभाव विकासका कारण है।

सहज स्वभावके सहज विकास रूप सवर भावकी प्रतिमुखता संसार वृद्धिका हेतु है।

महज स्वभावके सहज विकास रूप समभावके आनेकी उन्मुखता मुक्तिको हेतु है।

कर्मके उदय अथवा उदीरणा वश हुई निर्जरा क्लेशके लिये है।

निज स्वभावाश्रयमें से जो कर्म विपाककी निर्जरा शान्तिके लिये है।

लोक क्षेत्रके स्नेह और परिग्रहसे यह जीव सर्वत्र अनन्तीबार जन्म मरण कर लिया है।

निज चैतन्य लोकके आश्रयसे जीव जन्म मरणसे रहित शुद्धतत्त्वाश्रय आनन्द प्राप्त कर लेता है।

निज स्वभावकी उपासना में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी प्राप्ति दुर्लभ है।

निज स्वभावकी उपासना में सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रको होना अनायास सुलभ है।

परके लक्ष्यसे प्रगट होने वाला आत्म धर्मका विकास अधर्म है।

निज स्वभावके लक्ष्यसे प्रगट होने वाला आत्म धर्मका विकास धर्म है।

३ फरवरी १९५७

आज श्रीयुत सेठ भंवरीलाल जी पाण्ड्या झूमरीतिलय्या वालोंने मुझको कहा कि महाराज किसी धर्म कार्य या ज्ञान प्रभावनाके अर्थ कोई हजारक रुपये लगाये जाने हो तो आप बताइये। मैने कहा कि अभी मुझे कोई इसका विकल्प नही है तब भंवरीलाल जी ने बड़ा आग्रह किया कि महाराज मुझे कुछ बता ही दीजिये। तब श्रीयुत सिघई मुन्नीलाल जी गोटे गाव वालोंके प्रोग्राम अनुसार बतलाया गया उन्होने १००० रु० लाऊड स्पीकरके लिये प्रदान किया।

किसी परपदार्थसे मेरा हित नहीं है क्योंकि हित अनाकुलता मे है। अनाकुलता किसी बाह्य वस्तुसे प्रगट नहीं होती है। आत्माका चैतन्य स्वभाव आकुलताकी तरङ्गोसे स्वय दूर है उसके आश्रयसे ही यह हित प्रगट होता है। जगतका कोई भी कार्य कोई भी परोपकार कुछ भी सेवा यह सर्व आत्म हितका साधन नहीं। हा विषय कषायकी बाधा न हो इस प्रयोजनके अर्थ यदि परोपकार सेवा हो तो उसमें जो विषय विवृत्ति है वह सार प्रयोजन है उतनी साधना है।

ममता ही आत्म ब्रह्मकी विशोधनी है क्षमता, दमता, समता उत्तरोत्तर आत्मानंदकी सिद्धिया हैं। ये ही ऋद्धियां हैं।

केवलज्ञानका कारण आत्मज्ञान है, आत्मज्ञानका कारण स्वभाव दृष्टि है, स्वभाव दृष्टिका कारण स्वभाव ज्ञान है। स्वभावका ज्ञान विभावके विभाव रूप से ज्ञात किये बिना नहीं हो सकता है। स्वभावको स्वभाव समझना विभावको विभाव समझना उपादान निमित्तके यथार्थ ज्ञान बिना नहीं हो सकता। उपादान निमित्तका बोध वस्तुके स्वरूपके बोध बिना नहीं हो सकता। अत: वस्तु स्वरूपका बोध अवश्य करना चाहिये यही उत्तरोत्तर ज्ञान की निर्मल पर्यायोंकी सृष्टिका कारण बनकर केवलज्ञानका कारण बन जाता है।

४ फरवरी १९५८

लोग चाहते हैं कि ज्ञान; सारी समझ अभी ही आजावे। धनोपार्जनके लिये तो बड़ी गमी, प्रतिक्षायों की, परिश्रम किया और अनादि कालसे ज्ञानके विकासके लिये चाहते हैं कि अभी ही प्रगट हो जावे। क्या हो सकता है ऐसा? असभव तो नहीं किन्तु महा कठिन है। किसीके ऐसा हो भी जावे है तो उसका मुख्य कारण परिणामोंकी निर्मलता है; परिणामोंकी निर्मलता भी न होवे तो यह बात असभव है।

कुछ भाई कल्पना करते हैं कि आत्मा शरीर से प्रथक कोई वस्तु नहीं है किन्तु शरीरकी ही एक विशिष्ट शक्ति है जो कि मस्तिष्कका कार्य है। कुछ स्वीकार करते हैं कि आत्मा शरीर से पृथक भूत वस्तु है।

उक्त दोनो की दृष्टियों से भी विचार करें तो चाहते तो दोनोंही सुख शान्ति सुख शान्तिका सम्बन्ध ज्ञानसे कहो व कल्पनासे, है ज्ञान से ही सम्बन्ध। जैसे भौतिक पदार्थोंके समागममे कल्पना करली कि सुख है तो वह सुख कल्पना से हुआ। भौतिक शरीर आदि से प्रथक्, अरूपी आत्माका विचार किया तो हुई यहा भी शान्ति कल्पना से। यहा तक तो बहुत खिचाव के साथ बराबरी हुई। अब विवाद यहां जरुर रह जाता है कि कौन सी कल्पना का सुख निरवधि है।

(१) मै शरीरसे अत्यन्त पृथकभूत वस्तु हू ।

(२) मैं शरीरको छोडकर आगे भी रहूगा क्योकि मै हू, जो है होता वह कभी नष्ट नही होता केवल अपनी पर्याय बदलता रहता ।

(३) मै क्या रहूगा ? जैसा वर्तमान परिणाम कर रहा हू उसहीके अनुकूल किसी पर्याय मे रहूगा ।

(४) मै स्वतन्त्र सत्तावान पदार्थ हू । जगतमें सभी प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र सत्तावान् हैं ।

(५) मै स्वतन्त्र हू अत: मेरा द्रव्य ही मै हू । मेरा क्षेत्र ही मेरा प्रदेश है । मेरा परिणमन ही मेरा कार्य है, मेरी सहज शक्ति या ही मेरे गुण है ।

(६) मै अपने चतुष्टय मय हू अत मै इस शरीरसे भी उतना जुदा हू जितना कि अन्य शरीरोसे । धन मकान आदिका कुछ कहना तो बडी ही मूर्खता है क्योकि ये तो आबाल गोपालको भी प्रगट जुदे दीखते हैं ।

(७) मै जिस भाव मे अभी हू यह भाव द्वितीय क्षणमे नही रहेगा यह भाव भी स्वप्न वत है सो वर्तमान परिणाम में आसक्त होना मेरा कर्तव्य नहीं है ।

(८) मेरे कोई भी परिणाम एक समयसे आगे नहीं रह सकते अतः भविष्यके भी किसी परिणाममे बुद्धि रखना मेरा कर्तव्य नही है ।

(९) मेरे भूतकालके परिणाम तो भूत ही हो गये उनके सम्बन्धमें चित्त डुलाना अत्यन्त मूर्खता पूर्ण विचार कहलाता है ।

(१०) मैं सुख दु:ख अपने वर्तमान परिणामसे करता हू अत. किसीकी आशा न रख वर्तमान परिणामको निर्मल करूगा ।

७ फरवरी १९५७

एक प्रश्न हुआ कि क्या वजह है कि हाथ पैर आदिमे जिस जगह शून्य करनेकी दवा लगा दी जाती है उस हिस्सेमे ज्ञान नहीं होता, क्या वहा के आत्म प्रदेश सुन्न कर दिये गये हैं या वहां के ज्ञान तन्तु बिगड़ गये ।

उत्तर—आत्म स्वयं ज्ञानमय है अतः उसे स्वयं ज्ञान करते रहना चाहिये और निश्चयतः करना भी स्वयं है परन्तु अनादिसे पराधीन ज्ञान

विकास होनेके कारण यह जीव इंद्रियोंके निमितसे ज्ञान करता है सो जब
कोई इन्द्रिय बिगड जाती है तन्निमितक ज्ञान नही हो जाता। उस औपधिको
निमित्त पाकर द्रव्येन्द्रिय प्रभावित होती है और द्रव्येन्द्रियकी खराबी हो जान
के कारण आत्मा तन्निमितक ज्ञान नहीं कर पाता है।

जैसे चक्षुरिन्द्रिय बिगड जाने पर देखनेका कार्य नहीं किया जा पाता
वैही स्पर्शनेन्द्रियके बिगड़ जाने पर उतने स्थानके काटे जाने पर स्पर्श वेदना
का काम नहीं हो सकता।

चक्षुरिन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय एक जगह है सो वहा स्पर्शनेद्रिय तो
बिगडी नहीं अतः वहांके स्कन्धके छुए आदि जाने पर स्पर्श वेदनाका
अनुभव है किन्तु चक्षुरिद्रिय बिगडी है तो रूप ज्ञानका कार्य नहीं हो पाता।

हाथमें शून्य करने वाली औषधिके लगाने पर हाथके छेदे जाने पर
आत्माके समस्त प्रदेशों मे स्पर्श वेदनाका अनुभव नहीं किन्तु कन्धे आदि
मे चोट या आघात करने पर आत्माके समस्त प्रदेशोंमे औषधि वाले हाथ
के प्रदेशों में भी सर्वत्र स्पर्श वेदनाका एक अनुभव है।

प्रत्येक आत्मा एक एक अखंड है अत आत्मामे सुख दुःख ज्ञान
आदिका जो अनुभव होगा जो परिणाम होगा वह आत्माके सब प्रदेशोंमे
एक साथ होगा और आत्म क्षेत्रसे बाहर कहीं भी नहीं होगा।

८ जनवरी १९५७

द्रव्य, वस्तुको देखनेके दो प्रकार हैं—१ किसी वस्तुको खालिस
यानी केवल उसीको देखना, २—दो या दो से अधिक वस्तुओं को
सम्बन्ध रूप से देखना। इनमें से पहिले प्रकार का नाम निश्चय नय है और
दूसरे प्रकारका नाम व्यवहारनय है।

निश्चयनयके प्रकारसे ज्ञात वस्तु भी तीन प्रकारसे ज्ञात होनेमे
आती है। १—अखंड स्वभाव दृष्टिसे, २—शुद्ध अवस्था की दृष्टिसे,
३—अशुद्ध अवस्था की दृष्टि से। इनमें से पहिले प्रकारका नाम परम शुद्ध
निश्चयनय है। तीसरे प्रकारका नाम अशुद्ध निश्चयनय है।

उक्त चार प्रकारके अभिप्रायोंमे से सर्व प्रथम अर्थात परम शुद्ध
निश्चयनय निश्चयनय ही है और अन्तिम अर्थात् व्यवहारनय व्यवहार

नय ही हैं। मध्यके दो अर्थात शुद्ध निश्चय एवं अशुद्ध निश्चय ये दोनो अपेक्षा कृत निश्चय हैं और अपेक्षा कृत व्यवहार हैं।

जगतके प्राणी व्यवहारनयके विषयसे ही परिचित हैं और परिचित हैं इस प्रकार कि उसीको सर्वस्व समझा है। व्यवहारको यह व्यवहार है निश्चय नही इस प्रकार नही समझा है। इस अभिप्रायमे आकुलता ही मात्रहस्तगत है।

आकुलतासे बचनेके लिये निश्चयनयके अभिप्राय का आश्रय लेना चाहिये। उन तीन अभिप्रायोमें पहिले अशुद्ध निश्चयकी ओर मुडे। क्योकि जीवोको अशुद्ध पर्यायका परिचय अनादिसे चल रहा है। सो उस अशुद्ध पर्यायको निश्चयनय की शैलीसे देखे। फिर अभ्यास करे शुद्ध निश्चयकी दृष्टिसे देखने का, क्योकि स्वभावके अनुरूप शुद्ध पर्याय है।

आज श्री दयाचन्द जी फर्म माणिक लाल सतना ने प्रवचन समिति को एक हिन्दी टाइप राईटर भेट करने को कहा।

६ जनवरी १९५७

निम्न स्वभाव दृष्टि सम्यक्त्व सुपुत्र की जननी है। स्वाभाव दृष्टि पाने के लिये ५ प्रकारके प्रकरण गौण करदेना चाहिये इसके लिये:—

१— आत्मद्रव्यसे भिन्नपदार्थोंका आत्मद्रव्यमे सयोग न देखना

२—त्रैकालिक, एक स्वभावसे विलक्षण व्यञ्जन पर्यायोको न देखना

३—त्रैकालिक नियत स्वाभावसे विलक्षण गुण पर्यायोको न देखना

४-परम सामान्य स्वभावसे विलक्षण शक्ति भेद (गुणोको) न देखना

५-- स्वत सिद्ध स्वभावको नैमैंतिक परिणमनोसे संयुक्त न देखना।

स्वानुभव यद्यपि प्रमाण एवं नयोके विकल्पसे रहित है, तथापि स्वानुभव स्वय प्रमाण स्वरूप है।

स्वानुभव का उपाय साक्षात तो नहीं है क्योकि वह सहजवृत्त परिणमन है तथापि स्वानुभवसे अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती परिणमन तक पहुचनेका उपाय है। एतदर्थ पहिले व्यवहारनय और निश्चयनय दोनोके विषयोका अध्यन मनन करे फिर दोनोको सापेक्ष देखते हुए प्रमाणित ज्ञान स्थापित करे तदन्तर निश्चयनयकी मुख्यदृष्टिसे एक सामान्यका उपयोग करे। यहा तक तो उपाय चलावे तदन्तर एक सामान्यके विकल्पसे भी दूर हो जाना

होता है उस समयकी निर्विकल्प अवस्थामें जो अनाकुल स्वसंवेदन है वह स्वानुभव है।

संसारमार्ग तो आस्रव बंध है मोक्षमार्ग संवर निर्जरा है। एक समयमें आत्माके एक पर्याय होती है। आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा चारोंका कारण पर्याय है। सम्यग्दृष्टिके भी एक समयमें एक पर्याय है और वह पर्याय आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा चारोंका कारण है। पर्यायकी अद्‌भुतता भी देखो, शक्तिका कैसा विचित्र विकास है।

१० फरवरी १९५७

जानने वाला ज्ञान है सो जाननेमें भी ज्ञान आवे तो ऐसी स्थिति हो जाती है कि ज्ञाता ज्ञान है और ज्ञेय भी ज्ञान है। जहां ज्ञाता और ज्ञानमें कोई भेद नहीं रहता वह अवस्था प्रायोगिक स्वरूपाचरण है, स्वानुभव है।

ज्ञान धर्म है उसे जाननेके लिये आत्मा धर्मीका ज्ञान होना आवश्यक है। आत्मा चैतन्य स्वरूप है, स्वतः सिद्ध है, अनादि अनन्त है, स्वसहाय है, निर्विकल्प है।

आत्माके सम्बन्धमें समझनेकी प्रकारे दो हैं एक जाति, दूसरा व्यक्ति। जाति आत्मा तो महासत् है, व्यक्ति आत्मा विशेष सत् है। जाति आत्माकी अपेक्षा आत्म सत् है वो व्यक्ति आत्माकी अपेक्षा असत् है। जाति आत्मा एक है। व्यक्ति आत्मा अनेक है, जाति आत्मा एक रूप है। व्यक्ति आत्मा अनेक रूप है। जाति आत्मा शुद्धाशुद्ध सर्व पर्याय स्थित है, व्यक्ति आत्मा एक पर्याय स्थित है। आत्मा अंशीकी अपेक्षा त्रिलक्षण है, अंशकी अपेक्षा अत्रिलक्षण है।

आत्म द्रव्य दृष्टिसे अभेद रूप है, द्रव्य रूप है। पर्याय दृष्टिसे आत्म भेद रूप है देशांश (प्रदेश) गुण, गुणांश (पर्याय रूप है)।

आत्माको भेदों द्वारा समझा जाता है किन्तु प्रतिबिम्बित याने प्रमाण रूपमें आगत अभेद रूप ही होता है।

आत्माका विलास अचिन्त्य है इसीके परिणाममें तो अनंत भाग वृद्धि असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुण वृद्धि, असंख्यात गुण वृद्धि, अनन्त गुण वृद्धि, अनन्त भाग हानि, असंख्यात भाग हानि

संख्यात भाग हानि, सख्यात गुण हानि, असख्यात गुण हानि, अनन्त गुण हानि आदि वृद्धि हानिया होती रहती हैं।

११ फरवरी १९५७

आत्माकी उन्नति आत्माके ज्ञाता दृष्टा बने रहनेमे है। आत्माका ज्ञाता दृष्टा रहना अकषायता पर निर्भर है। अकषायता होना अकषाय स्वभाव चैतन्य तत्व के अभिमुख होने पर निर्भर है। यह अभिमुखता ज्ञान साध्य है अतः ज्ञानके लिये यत्न करना सर्वोपरि पुरुषार्थ है।

यथार्थ ज्ञान हो जाने पर भी यदि पुरुषार्थ नही चमकता है तो उस ज्ञान की यथार्थताकी प्रतीतमें कमी समझो। प्रतीत पूर्ण होने पर पुरुषार्थ चाहे उतना न बने फिर भी पुरुषार्थ चमकते हुएकी पद्धतिमे रहता ही है।

पुरुषार्थ पुरुषके अर्थको कहते हैं। पुरुषका अर्थ याने प्रयोजन शान्ति। शान्ति बिना यथार्थ ज्ञानके नही हो सकती। अतः यथार्थ ज्ञान करना ही सत्य पुरुषार्थ है।

(१) वह मनुष्य जो खुद अपने दुर्भावमे रहता है और दूसरोसे घृणा करता है।

(२) वह मनुष्य जो खुद अपने सुधार मार्गकी ओर है किन्तु दूसरेसें घृणा करता है।

(३) वह मनुष्य जो खुद तो सुधार मार्ग पर नहीं किन्तु गुणियोका बहुमान करता है।

(४) वह मनुष्य जो खुद तो सुधार मार्ग पर नही किन्तु-गुणियोका बहुमान करता है एव दूसरोसें घृणा नहीं करता।

(५) वह मनुष्य जो सुधारके माग पर है और दूसरोसे घृणा भी नहीं करता।

(६) वह मनुष्य जो खुद सुधार मार्गमे रहता है और दूसरोको सुधार मार्गमे चलनेकी प्रेरणा करता है एवं दूसरोसें घृणा नही करता एवं गुणियो का बहुमान करता है! ये मनुष्य उत्तरोत्तर उत्तम है।

१२ फरवरी १९५७

सत्य स्वरूपता स्वयं है और बनता फिरता असत्य। यह संसारी भगवान

से भी बडा बनना चाहता है । भगवान तो केवल सत्यको जानतेथे इसारी असत्यकी भी कल्पना करते रहते हैं ।

सत् द्रव्य, गुण पर्याय रूप है । अतः भगवान द्रव्य जानते हैं, गुण जानते हैं पर्याय जानते हैं । भगवान सयोग नहीं जानते हैं, माप नहीं जानते हैं । शरीर मेरा है ऐसा ज्ञान मोही बना लेते हैं, भगवान तो इस विकल्प में परिणत आत्माको जानते हैं । क्योकि विकल्प आत्माकी पर्याय है शरीर का और आत्माका सयोग जिसे मोही देखते हैं वह संयोग किसीकी भी पर्याय नहीं, न तो सयोग शरीरकी पर्याय है और न सयोग आत्माकी पर्याय है । आत्माकी पर्याय आत्माकी शक्तियोके परिणाम हैं और शरीरकी पर्याय पुद्गल की शक्तियोंके परिणाम हैं । संयोग न देशाश है और न गुण है और न गुणाश है । अतः केवली भगवान सयोग नहीं जानते ।

जैसा भगवान जानते हैं उस जातिके ज्ञानका भूतार्थ कहते हैं और जैसा भगवान नहीं जानते हैं उस जातिकी कल्पनाको अभूतार्थ कहते हैं ।

जम्बूद्वीप आदि पृथ्वी जल आदि सर्व पदार्थोंको भगवान जानते हैं किन्तु यह द्वीप एक लाख योजनका है यह इतने मापका है ऐसी कल्पना भगवानके नहीं है ।

आत्मन ! भगवान से बडे बननेका यत्न न करो ।

१३ फरवरी १६५७

शान्तिका उपाय करने लगे तो सरल है न करनेजावे तो कठिन व कठिन ही क्या असम्भव है । शान्तिके अर्थ आवश्यक है अभीक्ष्य ज्ञानोपयोग की ।

सारा खेल उपयोग हीका तो है । लेने देनेकी बात तो कुछ है नहीं, केवल उपयोगकी बात है ! उपयोगको सभाल लेना ही ज्ञानका लाभ है । उपयोग को बिगाड लेना ही ज्ञानका दुरुपयोग है ।

उपयोग ही तो उपभोग है निगोद भी उपयोग का उपभोग करते हैं । सिद्ध भी उपयोगका उपभोग करते है । उपयोग पर्याय है । भोग तो उपयोग पर्यायका है । उपयोगका स्रोत स्वरूप सहज चैतन्य उपभोग रहित है उसे समवेत दृष्टिसे उपभोग कह सकते हैं ।

उपशान्त, प्रशान्त, अपशान्त, संशात, अनुशान्त, निःशान्त, दुःशान्त,

अशान्त, अधिशान्त, सुशान्त, अभिशान्त, प्रतिशान्त इनमेंसे तुम क्या बनना चाहते हो पसन्द करो।

अच्छा देखो इन सबको नम्बर वार रखते हैं अन्दाज करो—निःशान्त, अपशान्त, दुःशान्त, प्रतिशान्त, अनुशान्त, अधिशान्त, अशान्त, उपशान्त, अभिशान्त, प्रशान्त, सुशान्त, संशान्त।

शान्त अशान्त नहीं। अशान्त शान्त नहीं। आत्मा न अशान्त है न शान्त। वह अनुभव है।

आत्मा न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है, अनुभव है।

१४ फरवरी १९५७

अर्हंत पूज्यको कहते हैं। पूज्य वह है जिसके गुणोका पूर्ण स्वाभाविक विकास हो। जिसके गुणोंका पूर्ण स्वाभाविक विकास है उसे संक्षिप्तमें यो समझ लेना चाहिये कि वह अनन्त ज्ञानी है (सर्वज्ञ) है, अनन्त दृष्टा (सर्वदर्शी) है, अनन्त आनन्दमय है व अनन्त शक्तिमान है याने निजकी सर्वशक्तिका उपभोगी है।

सिद्ध - पूर्णतया सिद्धको कहते हैं। पूर्णतया सिद्ध वह है जिसके द्रव्यका अन्यद्रव्यसे संयोग न रहा हो। केवल वही द्रव्य असंयुक्त हो जिसके क्षेत्रका अन्यद्रव्यके क्षेत्रसे संयोग न रहा हो अर्थात् किसी भी द्रव्यका निमित नैमितक भावसे एक क्षेत्रावगाह न हो जिसकी कोई भी पर्याय किसी भी प्रकारके निमितको पाकर न हो, जिसके भावका पूर्ण शुद्ध अनैमितक विकास हो। जिसके ऐसी पूर्णतया सिद्धि हो चुकी है। उसको संक्षिप्त में यो समझ लेना चाहिये कि वह अनन्तज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तानन्दमय व अनन्त शक्तिमान तो है ही एवं वह शरीरसे भिन्न सर्व कर्मो से भिन्न भी हो चुका है उर्द्धगमन स्वभावसे वह अत्यन्त उर्द्ध में स्थिति हो गया है जो कि लोकके अग्रभागमें स्थित कहे जाते हैं।

सिद्धोंमें व अरहन्तमें भावकी अपेक्षा तो वही बात है रंच अन्तर नहीं है। अन्तर द्रव्य क्षेत्र कालमें उपरी है। जैसे अरहंत शरीर व कर्मके संयोग सहित है। कर्मका व शरीरका एक क्षेत्रावगाह है। अघातिया कर्मोंके निमित्तसे योग, प्रदेश परिस्पन्द है। यह अन्तर उपरी इसलिये है कि गुण

घात करने मे अन्तर असमर्थ है ।

१५ फरवरी १६५७

पूर्व कालमे हजारो साधुवो एक सग रह लेता था । उसका कारण यह है कि वे साधु कल्याण भावसें सग चाहते थे । सभी साधु विनयसें अपना उत्थान समझते थे । वे आत्म कल्याणके लिये विनय करते थे, प्रश्न करते थे । वे आत्म कल्याणके लिये दूसरोका वैयावृत्य करते थे । सबका एक आत्म कल्याण उद्देश्य था इसलिये सबका १ सूत्रमे रहना अनास बात हो जातीथी ।

साधु सघमे शासन नहीं किया जाता था किन्तु शाशन हो जाता था । कोई भी साधु महाराज अपनी ही गरजसें आचार्य महाराजसे प्रार्थना करता था, सेवा योग्य कार्यकी आज्ञा मागता था ।

यदि किन्हीं साधु महाराजको कहीं बाहर जानेकी आवश्यकता मालूम पडती थी तो साधु आचार्यसे विनयपूर्वक आज्ञा मागते थे । उत्तर न मिलने पर दूसरे दिन पूछते थे । फिर भी उत्तर न मिलने पर तीसरे दिन पूछते थे । जब उन्हें आज्ञा मिले तभी जाते थे । इसमें साधुकी तो यही श्रद्धा थी आचार्य महाराज कई बार सुननेके बाद जो आज्ञा देगे वह हितकारी आज्ञा मिलेगी । आचार्य महाराजका मुझ पर बडा अनुराग है कि कई बार सुने और विचारे बिना मुझे झट ही कुछ नहीं कह रहे हैं ।

जहाँ सबका उद्देश्य एक होता है वहा शासन नहीं करना पड़ता, स्वय ही संघ अनुशासित हो जाता है । ॐ नमः सरलत्त्वयाय ।

१६ फरवरी १६५७

विद्यार्थियों से ।

विद्यार्थी जीवन ससारके समस्त प्राणियोमे से केवल मनुष्यको ही प्राप्त होता है । अपनी उन्नतिका मार्ग बना लेना ही विद्यार्थी जीवनकी बडी विशेषता है ।

विद्यार्थियोकी उन्नतिके लिये सक्षेपमे बताया जावे तो यह है कि वे इन तीन ही बातों पर अपना अधिकार जमाले । (१) विनय (२) ब्रह्मचर्य (३) विद्याभ्यास ।

विनय—विद्योपार्जन स्वयं व दूसरोसे अभ्युदय प्राप्तिका मूल मंत्र है। विनयसे विद्याये अल्प प्रयासमे ही प्राप्त हो जाती है, गुरु एवं अन्य जनोका आर्शीवाद एवं प्रस्नेह प्राप्त होता है। विनय शील कभी भी दुखी नहीं हो सकता। विनयकी व्यक्ति सेवासे होती है।

ब्रह्मचर्य—वीर्य शरीरका बल है और शुद्ध भाव आत्मा का बल है। यदि शरीर और आत्मा दोनोकी ओरसे बलिष्ट रहता है तो शुद्ध भावोको बनावो व वीर्यकी रक्षा करो। अशुद्ध भाव होने पर वीर्यकी रक्षा कठिन है। शुद्ध भाव वीर्य रक्षाके कारण हें। अतः शुद्ध भाव व वीर्य रक्षा द्वारा ब्रह्मचर्यका अखण्ड पालन करो। एतदर्थ शुद्ध सात्विक आहार विहार करो।

विद्याभ्यास—विद्यार्थी कालमे बुद्धिका अनर्गल चमत्कार रहता है कि जो सीखो झट याद हो जाता है। इस अवसरसे जो चूकता है। वह बादमे पछताया ही नजर आया है। विद्यार्थी कालका विद्याभ्यास द्वारा पूरा लाभ उठाओ।

१७ फरवरी १६५७

गृहस्थ पुरुषोसे—

अनेक जन्मोको धारण कर कर थके हुये इस आत्माको आज यह मनुष्यभव मिला है। इस अनित्य समागमसे पूरा लाभ उठानेके अर्थ कर्तव्य तो यह है कि पूर्ण अहिंसक एव पूर्ण ब्रह्मचारी रहकर आत्मसाधना करली जावे। एतदर्थ निग्रन्थ, नि संग होनेकी आवश्यकता है। ऐसा बननेकी सामर्थ्य न होनेपर गृहस्थ धर्म द्वारा अनेक उद्दण्ड तावोको समाप्त कर देना कर्तव्य हो जाना है।

गृहस्थ जीवनको उत्तमतया पार करनेके लिये ३ बातोका पालन अत्यावश्यक है (१) आध्यात्मिकता (२) आय से कम खर्च (३) हितमित प्रिय व्यवहार।

आध्यात्मिक—अपना व परपदार्थोका स्वरूप जानकर परपदार्थोकी आसक्ति न करना और आत्म गुणोकी ओर झुकना आध्यात्मिकता है। इस अन्तरङ्गवृतिके कारण कलह विसंवाद कपट आदि अनेक अवगुण समाप्त हो जाते हैं। जिमसे शान्तिका साम्राज्य बन जाता है।

आयसे कम खर्च—आयसे कम खर्च करनेसे जीवनकी अनेक चिन्तायें समाप्त हो जाती हैं। कमसे कम खर्च जितनाचाहेकियाजा सकता है। इसके विश्वासके लिये गरीबो पर दृष्टी डालो। इस असार संसारमे संकोचका क्या काम। अपना लाभ देखो।

हित मित प्रिय व्यवहार—आत्म शान्तिके अतिरिक्त सब अहित हैं। जडके उपयोगसे तो जडता ही, अशान्ति ही मिलती है। ऐसा जानकर सब से हितकारी परिमिति, सत्यता पूर्ण प्रिय व्यवहार रखना उन्नतिका अपूर्व साधन है।

१८ फरवरी १९५७

गृहस्थ महिलाओ से :—

प्राप्त दुर्लभ इस मनुष्य जन्मकी सफलता नि'संग रहकर आत्मानुभवमें रमनेमे है परन्तु इसकी असामर्थ्य होनेसे गृहस्थ धर्म अंगीकार किया है। इसे सफलतामें गुजारनेके लिये इन तीन बातोकी आवश्यकता है—(१) सत्यशील मय वृति (२) गृहकार्यकी सुन्दर व्यवस्था (३) हित मित प्रिय वचन।

सत्यशीलमय वृति —शील व्रतसे रहना, दूसरोंका बुरा नहीं विचारना न्याययुक्त धनका ही उपयोग करना, सचाई रखना सत्यशील मत वृति है। इसमे आत्मीय गुण प्रकट होते हैं जिससे खुदको एव दूसरोंको भी सत्यशान्ति प्राप्त होती है यह गुण प्रधान आभूषण है।

गृहकार्यकी सुन्दर व्यवस्था—रसोईका प्रबन्ध, चीजोके रखे जानेकी व्यवस्था, शिशुपालन, शिशुशिक्षण आदि गृह सम्बन्धी उत्तम व्यवस्था रखना चाहिये जिसमे अन्य जीवोंको हिन्सा न हो और कुटुम्बको कोई रोग या चिन्ता उत्पन्न न हो।

हित मित प्रिय वचन बोलना—जो दूसरोको सन्मार्गमें लगावे ऐसे हितकारी वचन बोलना, साथही यह ध्यान रखना कि वे परिमित वचन हों तथा साथ ही साथ यह आवश्यक है वे प्रिय वचन हो। इन तीनोंमे पूर्ण वचनसे गृहस्थी स्वर्गसे भी अधिक मनोरम बन जाती है।

यदि उक्त प्रकारका निष्काम कर्म योग रखा तो यह भी गृहस्थ पदमें आत्माकी उपासना ही है। यह वृत्ति भी मोक्ष मार्गमें परम्परया सहायक है।

१९ फरवरी १९५७

घर, कर, खर, गर, टर, डर, थर, लर, शर, हर ये सब विडम्बनायें हैं। ज्ञान मान, ध्यान, गान, दान, भान, त्रान, आन, वान ये सब हित मार्ग चालक हैं। प्रभो! तेरी वाणी वाणी है ऐसी भी नहीं, वाणी नही ऐसी भी नहीं। तेरी ध्वनिका मिलना उत्कृष्ट पुण्यका फल है और सर्वोत्कृष्ट पुण्यका फल तेरी ध्वनिका होना है।

एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ कोई सम्बन्ध नही है। परस्पर प्रेमका द्रव्य व्यतिरेक, क्षेत्र व्यतिरेक व अवव्यतिरेक है।

मोही पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध सोचता है, मानता है। परन्तु उस आत्मका अन्य सभी आत्माओंसे रंच सम्बन्ध नहीं। जितने भिन्न उससे उसके अपरिचित हैं उतने ही भिन्न वे हैं जिन्हे घरके अपने पुत्र बन्धु मान रक्खे है।

द्रव्य प्रदेश गुण और पर्याय सबके स्वयके प्रत्येक एकमे है। कोई किसीका अन्वयी नही। फिर कुछ भी अपना मानना निपट अज्ञान है।

बस हो चुका, हो चुकी अज्ञानकी हद, गुजर गया पशु जैसा जीवन। अब मनुष्य होओ। मनुष्यत्व बनाओ। तन पाया है तो दीन दुखियोकी सेवामे लगाओ। मन पाया है तो वस्तु स्वरूपके अनुरूप बनाओ। वचन पाया है तो धर्मके अनुकूल वचन बोलो।

आत्मीय सहज भावकी रटना मात्रसे काम न चलेगा। जानो अपना स्वभाव, मानो तदनुरूप प्रवर्तन।

२० फरवरी १९५७

जो होना है वही होगा। जो जिनेन्द्र, सिद्ध परमात्मा को ज्ञात है होगा वही। उसमें परिवर्तन नहीं। वह जिस विधानसे प्रगट होता है वह केवलीके ज्ञानमें ज्ञात होता है।

स्वभावके उन्मुख होने वालेके इतना बल प्रगट होता है कि स्वयं सहज परिणमन अधिक होता है नैमित्तिक परिणमन कम होता जाता है। परके निमित्तके उन्मुख रहने वालोके सहज परिणमनका तो तिरस्कार हो जाता है और नैमेतिक परिणमानोका जलसा हो जाता है। अब जहा उन्मुख होनेमे हित

[illegible]

[illegible]

[illegible]

गुप्ति कहते हैं [illegible] — [illegible] से [illegible] आत्मध्यान किया जाता है।

२१ फरवरी १९५८

यह शरीर जिसमें तुम्हारा बन्धन है, पाप है बन्धन इसीसे रहा है! इस कारण बन्धन हुआ कि शरीरको तुमने अपना माना।

शरीर दो प्रकारके हैं १ औदारिक शरीर २ वैक्रियक शरीर। औदारिक शरीर दो प्रकारका है। १ तो स्थावरका औदारिक शरीर दूसरा त्रसोंका औदारिक शरीर। स्थावरोंका औदारिक शरीर हाड़ मांससे रहित है जैसे पृथ्वी जल आग हवा वनस्पति। त्रस जीवोंका शरीर हाड़ मांस चर्म आदि दुर्गन्धित चीजोंसे निर्मित है। औदारिक वैक्रियक शरीर हाड़ मांस रहित है। उक्त शरीरोंमेंसे जब जिस शरीरको इस जीवने पाया उसीको अपना माना।

इन शरीरोंमें से देखो तो जो अभी शरीर तुम्हें मिला है वह कितना दुर्गन्धित है। ऐसे अशुचितनसे राग करते हुए हिचकिचाहट नहीं। यह शरीर देखने योग्य भी नहीं। आद्योपान्त अशुचि ही अशुचि है। इसके सम्बन्धसे अन्य पदार्थ भी ग्लानि योग्य हो जाते हैं। शरीरकी ममता बिलकुल हटाओ। निज स्वभावके दर्शनमें उपयोग लगाओ। तुम तुम ही हो। तुम तुम्हीको करते हो। तुम तुम्हारे ही द्वारा करते हो। तुम अपनी ही उपादानसे करते हो। तुम्हीमें तुम करते हो। अन्य पदार्थका तो कुछ सम्बन्ध ही नहीं।

शरीरकी दृष्टि छोडो। इस लूग्रर (आग) लगेको जो होना हो होने दो। तुम तुममे वस जाओ, अलौकिक आनन्द हो जाय ।।

जो सतके अनुरूप परिणाम रखता है वह सन्त है! जो सन्त है वह सत्‌का द्रष्टा है। सतमें अलौकिकता है। सतमे लौकिकता भी है। लौकिकता मे सत्‌ तिरोभूत है। सत्य रूपका दर्शन उत्तम ज्ञान तपका परिणाम है।

२२ फरवरी १९१७

कौन कहता है कुछ भी कही। कहना हो जाता है। आत्मा तो परिणाम मात्र करता है। कौन खाता है कुछ भी कही। खाना हो जाता है। आत्मा तो परिणाम मात्र करता है।

आत्मा प्रभु है उसकी ये सब लीलायें हैं। आत्मा ही स्वभावसे च्युत हो होकर बार बार अवतार लेता है। जो अवतार उत्तारके लिये होता है उस अवतारकी प्रशसा है।

काल चक्रका ऐसा स्वभाव है कि कभी धार्मिक उत्थान होता है कभी धार्मिक पतन होता है। धार्मिक उत्थानके दिनोमे भी सीमागत पतन उत्थान चलता है। यह उत्थान किन्ही भी महापुरुष द्वारा जो अपनी विशिष्टता पाये हो, होता है। इन कारणोसे यह बात प्रचलित हो गई कि जब जब धर्मकी हानि होती है तब तब भगवानका अवतार होता है।

क्षयसिद्ध, उदयसिद्ध, निमित्तसिद्ध, स्वतःसिद्ध, स्वयसिद्ध, सहजसिद्ध, सदासिद्ध, सिद्धासिद्ध, सादिसिद्ध, अनादिसिद्ध इनका तात्पर्य जानो।

मुक्तामुक्त, अमुक्त, मुक्त, न मुक्त न अमुक्त इनका अर्थ समझो।

शेष, अशेष, विशेष, अनुशेष, अवशेष, नि शेष, अधिशेष, प्रतिशेष परिशेष इनका भाव हृदयमें जमाओ।

अशुद्धि अपशुद्धि, प्रतिशुद्धि, अनुशुद्धि, विशुद्धि, प्रशुद्धि, अभिशुद्धि, अवशुद्धि, परिशुद्धि, संशुद्धि ये उत्तरोत्तर विकास हैं।

क्या कोई चीज कभी गुमती है? नहीं, फिर लोग रोते क्यो? मोहवश।

क्या कोई चीज कभी मिल सकती है? नहीं, फिर लोग हंसते क्यो? अज्ञानवश।

२३ फरवरी १९५७

वास्तविक पुरुषार्थता तो वह है जो तत्काल शान्ति लावे। पुरुषार्थका प्रयोजन अशान्ति नहीं है। अशान्तिके अर्थ कोई प्राणी कुछ नही करना चाहता है। अत. यह सिद्ध है कि पुरुषार्थ वही है जो शान्तिमय क्रिया हो।

जगतके किन्हीं भी पर पदार्थोका यह आत्मा कुछ नहीं कर सकता न मात्र उनके विषयमें आत्मभाव बनाता है। न अन्य पदार्थ इस आत्माका कुछ हित अहित करते हैं। यह तथ्य जानकर इतना तो मनमे विश्वास किये रहो कि मेरा हित किसी परके मुधार बिगाड मे नहीं मेरा हित किसी अन्यकी किसी परिणतिसे नहीं। कोई अनुकूल हो गया इसका अर्थ इतना ही तो है कि तुम्हारी कप्रायके समान कषाय रखने वाला हो गया अथवा तूने अपनी कषाय के समान किसी को कषाय वाला समझकर उसका लक्ष्य बनाकर सुहावनेका भाव बना लिया। हुआ क्या ? दूसरे ने अपनी तुझमे कोई शक्ति या पर्याय दे दी क्या ? किसीसे कहीं कुछ नहीं हुआ। केवल अपनी कल्पनाओंको तू परम्परा बना रहा है। इस दुर्बुद्धिको छोडते ही आनन्द मिल जावेगा। कभी छोड, जब तक न छोडेगा आनन्द पा नहीं सकता।

हे आत्मन तू तो स्वयं आनन्द समुद्र है, लहरें न उठे तो समुद्र अक्षोभ है, गम्भीर है, शान्त है। तुझमे विकल्प न उठें तो तू भी अक्षोभ है, गम्भीर है, शान्त है। कल्याणके लिये करना कुछ नहीं है, यथार्थ ज्ञान करना है। इसीमे जो करना है वह सब आगया।

कोई लोग धर्मके नाम पर क्या करते हैं उनकी आलोचनासे कुछ प्रयोजन नहीं।

स्वयं तुम भले हो अन्तरङ्गसे तो तुम्हारा समग्र भला है।

२४ फरवरी १९५७

इस जबलपुरके समीप मढ़ियाका यह स्थान धर्मसाधना करनेके लिये रहनेके योग्य है। परन्तु यहाँ इतना जन समुदाय होकर भी किसीका परिणाम यहां रहनेका नहीं होता यह आश्चर्यकी बात है अथवा किसीके रहनेको स्थान तककी सुविधा नहीं है कोई रहे भी क्या ?

यहाकी जैन जनताका बहुत आग्रह था अतः अब कुछ समय और देखता हू। पश्चात् यदि कोई जागृति लोगोमे नही होती तो मौनपूर्वक यहासे चला आऊंगा याने क्यो चले गये आदि विषयक कोई प्रश्न करे तो उसका उत्तर न दूंगा ऐसा संकल्प रहेगा।

ब्र० सत्य स्वरूप सूर्यवंशी क्षत्रिय अध्ययन करते हैं। इनका विचार अभी उत्तम है। कुछ अवस्था बीतनेके बाद लोकोमे कुछ परिचय होनेके बाद सभलकर रहनेका समय आता है। उस समयको विवेकसे गुजारनेके बाद आपत्ति नहीं होती।

संसारका अर्थ मोही यह लगा सकते हैं सं– सार जहा सम्यक् अच्छा सार हो और मोक्षका अर्थ लगा सकते हैं वे जहा इस अच्छे सारसे छूट जाना हो जावे। तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनोयत्र सलग्नम्। संसारका अर्थ संसरण परिभ्रमण और मोक्षका अर्थ है परिभ्रमणसे छूट जाना।

जीव परमार्थतः अपने भी पर्यायोमे भावोमे परिणमनोमे परिभ्रमण करता है। जब तक व्यतिरेकी पर्यायें विसदृश पर्यायें चलती हैं तब तक परिभ्रमण ही तो है। सदृश परिणमनोमें वर्तनेका नाम परिभ्रमण, ससरण व ससार नहीं है। सदृश परिणमन मुक्तात्माओका, परमात्माओका होता है।

२५ फरवरी १९५७

हे परमात्मन! अन्य बातोको भूले बिना तेरेको भूल जाना अक्षम्य अपराध है। इस अपराधका परिणाम सक्लेश ही सक्लेश है।

संसारके परिचयोसे बडप्पन नहीं है किन्तु बडप्पन है यथार्थ ज्ञान व कषायोंके दूरी दुखमे।

लोग मेरे कार्यमे हाथ न बॉट लेंगे। कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थमे नहीं परिणमता। किसी एक भी पर पदार्थकी आशा न कर अत्यन्त निवृत्त होकर एक बार तो आत्माके सहज आनन्दका अनुभव तो कर ले।

ऐसा नहीं होता है कि अनर्गल राग द्वेष बसाये और कभी भी झट ऐसे सहज आनन्दका अनुभव करले। तदर्थ बुद्धिपूर्वक उपाय यह है कि ज्ञानोपयोगमें चित्त लगाओ।

आत्मन् ! पर्याय तो नष्ट होनेके लिये विलीन होनेके लिये प्रकट होती है वह सूक्ष्म दृष्टिसे १ समय ही रहती है दूसरे क्षण नहीं। स्थूल दृष्टिसे याने उपयोक्तव्य दृष्टि से अन्तर्मुहूर्त विभाव पर्याय रहती है जिसका यह काल अधिकसे अधिक कुछ ही सेकिण्ड हो सकता है। ऐसे विनश्वर पर्याय, विभाव के हुक्ममें चलना अपने को क्लेशगर्तमें पटक लेना है। जो नहीं रहे उसके स्नेहमें हानि ही हानि है।

पर्याय बुद्धि में लाभ कुछ भी नहीं। यह जगत जिसे आश्रय बनाकर विभाव किया जाता है वह पर्याय रूप है, माया है, विकार है, इन्द्रजाल है, स्वप्न है। इसमें मोह करना अज्ञान है, मूढ़ता है, दुर्लभ नरजन्मकी बरबादी है, निज ब्रह्मकी प्रभुताका तिरस्कार है, महती बेहोशी है।

आत्मन् ! तू प्रभु है, अपनी प्रभुता सम्हाल, व्यर्थका भार दूर करो।

२६ फरवरी १९५८

यदि कषाय होने पर भी वियोग बुद्धि रहती है तो अभी वह आत्मा बिगडी नहीं है क्योंकि उसे स्वभावकी आन तो है। जिस क्षण स्वभावकी आन न रखेगा यह उस क्षण वह मिथ्यादृष्टि हो जावेगा।

ज्ञानकी विजय स्वभावभक्तिसे ही है। स्वभावभक्तिमें परमात्मभक्ति है, स्वभावभक्तिमें सभ्यताकी योग्यताकी वृद्धि है।

हे स्वभाव ! हे कारण परमात्मन् ! हे परमपारिणामिक भाव ! हे समयसार ! हे चैतन्य ! हे ज्ञानानन्दस्रोत ! अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगमें रहो। तेरी ही उपासना बिना जगतके धक्के अब तक खाये, अन्य सबकी उपासना करके व्यर्थ परिश्रम करता रहा।

हे सच्चिदानन्द ! हे परमब्रह्म ! हे सहजानन्द ! हे सहजभाव ! हे सनातन ! हे सदाशिव ! तू मेरे ज्ञान आसन पर विराजा रह। तुम्हारा स्वलक्षण कुछ करनेका नहीं सो मैं तुझसे कुछ कराऊंगा नहीं। कुछ कराऊंगा भी क्या ? जो करता है वह बडा नहीं, जिसकी दृष्टिमात्रमें अलौकिक महान कार्य होता है मेरी बुद्धिमें वही बड़ा है।

हे परमज्योति, तेरा वातावरण अन्धकारमय ! इससे बढ़कर विपरीतालङ्कार और कुछ नहीं।

प्रतिष्ठाका व्यामोह दुर्व्यामोह है। व्यामोह सभी खोटे होते हैं किन्तु अन्य व्यामोहोका मिटना उतना कठिन नही जितना कठिन प्रतिष्ठाका व्यामोह मिटना है।

व्यामोहका विनाश सम्यग्ज्ञान बिना नही होता। सम्यग्ज्ञानके होने पर व्यामोह नहीं रहता।

कारण परमात्मा अमोह है, कार्यपरमात्मा विमोह है। कारणपरमात्मा शुद्ध है कार्यपरमात्मा विशुद्ध है। कारणपरमात्मा अमूल है कार्यपरमात्मा निर्मल है।

२७ फरवरी १९५७

वस्तु तत्व अवक्तव्य है क्योकि वस्तु जैसी है तैसी शब्दमे कही नहीं जा सकती है। वस्तु नित्य नही, अनित्य नही, नित्यानित्य नहीं, नित्यानित्यसे अलग नही। उसे समझता है तो एक दृष्टिसे नित्य है, एक दृष्टिसे अनित्य है व एक दृष्टिसे नित्यानित्यसे परे है।

सर्वथा नित्यका अर्थ है अपरिणामी सो तो वस्तु अपरिणामी है नहीं। सर्वथा अनित्यका अर्थ है कि असत् उत्पन्न हो जाता है। और सत्का निश्चययनाश हो जाता है।

वस्तु नित्य हो तो अनित्यपना भी रह सकता है, वस्तु अनित्य हो तो उसमें नित्यपना भी रह सकता है।

वस्तु प्रति समय वर्तमान पर्यायमात्र रहता है। पर्यायको छोडकर अकेला कुछ द्रव्य नहीं।

वस्तुस्वरूप अवक्तव्य है क्योकि वह ध्रुव है और प्रतिसमय परिणमनशील है। दोनो बातें एक साथ हैं वह कैसा है इसे एक शब्दमे क्या बताया जावे। बतलाना तो दूर रहा एक बार समझ भी कठिन है। फिर भी बताना अशक्य है, समझना शक्य है।

२८ फरवरी १९५७

अतीव निरपेक्ष वृत्तिसे कुछ समय बीते वह आनन्दकी बात है। सत्य आनन्द निर्विकल्प अनुभवमें ही है। अन्य सर्वतो विपदा ही विपदा है।

आत्मा तो केवल परिणाम करता है। मलिन परिणाम किया तो

बाहरसे तो कुछ लाभ होनेका नही, किन्तु होगी हानि खुदकी वह जिसकी पूर्ति न कोई अन्य कर सकता है और न स्वय शीघ्र पूर्ति कर सकता है। पूर्ति करेगा यह स्वय ही अन्य कोई हानिकी पूर्ति कर नही सकता यह सही है फिर भी आसान बात नहीं है।

हानि तो भावोकी लगाम जरासी ढीली करनेमे हो जाती है किन्तु उस क्षतिकी पूर्तिके लिये निर्मलभावोके करने रूप परिश्रम अधिक करना पडेगा।

वाह्यवृत्ति मनकी कल्पना आजस जीवित है। कामका तो काम ही मनोज है। उसका जड शाखा कुछ नहीं। मनसे काम उत्पन्न होता और मनके जीते बिना उसका साम्राज्य भी नही मिटता। मनके निर्मल हुए बिना काम विषय चिन्ताजन्य क्षतिका अभाव हो ही नहीं सकता।

नामकी सभाल तो भयकर व्याधि है। जगतमे नाम हो गया तो मिल क्या जाता उस आत्मा को। बडी बेवकूफी है नामके स्वप्न देखना।

हे निजनाथ! घरमे बैठे रहो। बडी आग लग रही है बाहर। बाहर झूको भी मत, नहीं तो कषायिल लपटों के मारे झुलस कर गिर पडोगे और फिर पता नहीं पूरे बरबाद होकर रहोगे या कुछ बचोगे।

१ मार्च १९५७

किसी भी आत्माकी शल्य रहनी ही नहीं चाहिये। शल्य तो मिथ्या ज्ञानमें होती। वस्तुकी निरपेक्षता, वस्तुकी स्वतन्त्रता प्रतीतिमें आई फिर शोक को स्थान कहा? मोहको स्थान कहा।

मै कभी भी दूसरोंके सोचने या प्रसन्न होनेसे सुखी न हो सकूगा। मेरे भावोंमे ही करामात हो तो सुखी हो जाऊगा। मेरे भावोंमे ही मलिनता हो तो दुखी हो जाऊगा।

हमारे सुखी बननेको हमे ही सुधरना है। अन्य किसीके कुछ भी हुए हमें कुछ नहीं मिलता।

नाम रहा सहा भी आज मिट जावो। नाममे मेरा काम भी जब नहीं बननेका तो नाम की फिक्र रखनेसे बडी बेवकूफी दुनियामे और क्या होगी।

विकल्पका नाम ही दुःख है। नाममात्रको याने सूक्ष्म, रच, जरासा भी विकल्प हो वह व्यहित है, शत्रु है। छोटीसी भी चिन्गारी पहाड जैसे

ई धनके ढेरको जला देनेमे कारण बन जाती है। इसी प्रकार छोटा भी विकल्प बड़ी बडी उत्पत्तियो, पातकोमे पतन कर देनेका कारण बन जाता है।

रंच भी विकल्प मात्र मत होओ। नाम मात्रका भी विकल्प नहीं चाहिये। ऐ विकल्पो! सब हटो, हमारा मैदान साफ करो।

मै यहीं शान्त, सुखी हू। यहासे जानेकी आवश्यकता नहीं, इसी निजके समीप ही चिपका रहूगा और सारा भय खतम करू गा।

२ मार्च १९५७

मै स्वय शांतिका पुञ्ज हू। अशान्ति तो मेरे स्वभावमे है नहीं। अशान्ति! अब तुम्हारी दाल नही गलेगी। तुम्हारी दाल तो तब तक गल सकती थी जब तक तेरे दलाल विकल्प मोटे तगडे हो रहे थे तेरे दिये हुए क्षोभोका जूठा भोजन खा खा कर।

यह आत्मामङ्गलमय है, कल्याण मूर्ति है, इसके समीप हे उपयोग! बसे रहो। बस करनेका काम इतना ही है। बाकीके कार्य जो सिरपर बीतते उन्हे तो अकार्य, हेय समझकर शीघ्र उनसे निवृत्त हो लो।

जो नाना परिणमनोमे रहकर भी बदल नहीं जाता ऐसे चेतन्य सामान्यात्मक हे निज प्रभो तुम्हारे प्रसाद बिना मै मरता जाता हू। अटकी तो कुछ है नही कि वाह्य पदार्थ न मिले तो हमारा कोई जीवन न होगा। मै सत् हू, स्वय सत् हू। वाह्य पदार्थका तो मुझमे प्रवेश भी तीन काल नहीं हो सकता मेरा स्वरूप स्वतन्त्र केवल मेरा ही रहेगा। परके सम्बन्धमे कुछ भी विचारना, कहीं भी लगना भ्रमका परिणाम है। है, होना कुछ नहीं।

विकल्प ही मात्र दुःख है यदि कोई विकल्प न करे और ज्ञान जो करता हो सो ज्ञानको करने दे कोई हानि नही है।

हे परिणमन! तू अपने आपको द्रव्य राजाको समर्पण कर दो, तुम द्रव्यसे परामुख रहकर अपना निर्वाह न करो तो तुम स्वभाव परिणमन बन कर आनन्दमय हो जाओगे।

सम्बन्ध भी तो तुम्हारा अन्य किसीसे है नही हे परिणमन! फिर अन्य की तरफ तुम ध्यान ही मत दो।

३ मार्च १९५७

आत्मन्! यह नरभव पाकर ऐसा काम न करना कि अब संसारमें भ्रमण कर दुःख उठाना पडे। यह अवसर बहुत अमूल्य पाया है। यहा श्रेष्ठ मन मिला है जिसके द्वारा सदाचार और विवेक की बात बनाकर अनुपम सफलता प्राप्त कर सकते हो।

इन्द्रिय विषय तो बिलकुल असार हैं उनकी कल्पना जीवको संक्लेशकी कारण बनती है। विषयोकी उन्मुखता केवल पागलपन है। सारका वहाँ नाम नहीं किन्तु मोही जीव सार वहीं समझता इससे बढ़कर कोई अन्य मूर्खता नहीं।

आत्मन्! माना कि तुम्हारा समय अनादिसे अब तक प्रायः विषयोकी कल्पनामें समय बीता। तुम भी अधीर, व्याकुल और सशल्य रहे इस निःसार वाञ्छामें किन्तु जबसे विषय भावसे पराङ्मुख हो जाओ तबसे कल्याण है। विषय विमुखता व विवेकके प्रकट हो जाने पर पूर्वकृत पाप भी झड़ जाते हैं।

हे निज प्रभो! तेरी लीला अपार है। विभाव रूप भी तू परिणमता है तो वह भी निराली लीला है और स्वभाव रूप तू परिणमता है तो वह शानदार लीला है ही।

नाथ कैसे परिणम जाता है इसकी अगल बगल भी किसी अपरिचित जीवके अगम्य है।

४ मार्च १९५७

संसारमें दुःख मात्र विकल्प ही है। इसके मेटनेका जो समुचित प्रयास है वही साधुता है। यदि साधु होकर विकल्प न मिटा अथवा विकल्प बढ़ा तो वहा साधुता नहीं।

विकल्प न बढ़े इसके लिये ये ३ साधन हैं— (१) एकान्त वास, (२) विहार और (३) सत्संग। विवेककी और आत्म ज्ञानके लगनकी सर्वत्र आवश्यकता है इन दोनोके बिना वे ३ साधन भी कार्यकारी नहीं हो सकते। उन तीनों साधनोंके विपरीत जन संकुलवास, सस्थाके रूपमें जमाव और विषय कषाय प्रेमियोका संग तो पतनकी ओर ले जाने वाले हैं।

आत्मन् ! क्या कहू कहा नही जाता । इतनी वेदना है इस व्यर्थकी अशक्यता पर कि जानता तो हू और उसके अनुरूप कर नहीं पाता । अब कर ही डालू ऐसा सकल्प है ।

ब्रह्मचर्य परम तप है और स्वाध्याय परम तप है जिसका समय इन दोनो तपोको बीतता है उसका जीवन सफल है ।

पुराने परिणमन अब तो नही हैं ना आत्मन् ! उनकी शल्य न कर । वर्तमान परिणमन स्वभाव दृष्टिका बना ले फिर कुछ आपत्ति नही ।

तीनो समय जो सामायिकका है उसमे यदि स्वानुभव होता जाय तो वह सामायिक सफल है ।

स्वानुभवके लिये यह कैद नही कि दिनमे इतनी बार ही हो या माहमें इतनी बार ही हो कई कई बार एक दिनमे स्वानुभव हो सकता है । इसलिये अब लग जाओ कई कई बार स्वानुभव हो ऐसे यत्नमे ।

५ मार्च १९५७

प्रत्येक सामायिकमे निर्विकल्प निज तत्त्वका अनुभव आ ही जाना चाहिये । एतदर्थ सामायिकमे तब तक बैठे रहो जब तक स्वानुभवका आनन्द न पा लिया जावे । स्वानुभवका आनन्द पानेके बाद तो कुछ समय और बैठे रहनेमे उपयोग लगेगा पश्चात् भी स्वानुभव आता है तो स्वय बैठना और बनेगा । इस शैलीसे जो समय व्यतीत हो जायउसे सामायिकका काल समझना यह काल इस घडीके समयसे या उसके देखनेसे अधिक अच्छा है ।

बहुतसे बन्धु पूंछते हैं कि सामायिकमे मन नहीं लगता । सामायिकमे मन लग जावे ऐसा उपाय बताइये । भैया सामायिक और शल्य इन दोनो का परस्पर विरोध है । जहा सामायिक है वहा शल्य नहीं और जहा शल्य है वहा सामायिक नहीं । अत सामायिकमें मन कैसे लगे इस पर विचार लेनेके बजाय शल्यें कैसे छूटें इस पर विचार करना चाहिये और इसका भावात्मक यत्न करना चाहिये । निःशल्य आत्माके सामायिकका हो जाना अतिसुगम है ।

शल्य तीन प्रकारकी हैं—(१) माया, (२) मिथ्या, (३) निदान । तीनो के सम्बन्धमे अपने लिये सोचो—(१) चुगली करनेकी आदत तो नहीं है,

किसी परकीय वस्तुको हड़प करने की चाह तो नहीं है, लोकमे अपनी नामवरी फैलानेकी चाह तो नहीं है। यदि ये तीनो बातें नही हैं तो तुम सामायिकके पात्र हो। (२) स्वार्थ वश कोई आगम विरुद्ध प्ररूपणा तो नहीं करते, सराग देव शास्त्र गुरुकी अनुमोदनामें तो नहीं हो, शरीरसे भिन्न आत्माके सम्बन्ध में कोई शंका तो नहीं है। यदि ये तीनों बातें नही हैं तो सामायिकके पात्र हो। (३) किसी वस्तुके सयोगकी आशा या प्रतीक्षा तो नहीं कर रहे, अगले भवमें राजा, देव आदि होऊ ऐसी कामना तो नही कर रहे, कल्याणके लिए निमित्तोके सग्रह पर दृष्टि तो नहीं दे रहे, यदि ये तीनो बातें नहीं है तो तुम सामायिकके पात्र हो।

६ मार्च १९५७

यदि जल में आग लग जावे तो बताओ कोई बुद्धूनाथ, उस आगके बुझानेका उपाय। जैन धर्म पायकर यदि विनाशीक, अशुचि और दु खके निमित्तभूत इस देह न देहकी शकलकी नामवरी, प्रतिष्ठा व ख्यातिमें लग गये तो बताओ कोई बुद्धूनाथ, जगत्के परिभ्रमणसे छूटनेका उपाय।

किसी भी न्योछावर पर किसी चेतनसे अपना स्नेह करना आपत्तिका मूल है। यह स्नेह कितनी आपत्ति लावेगा इसका कोई अन्दाज नहीं कर सकता। प्रायः कोई स्नेह भी तो दृढ़तापूर्वक करता भी तो नही है। अविवेक है तब थोडा मोड़ा कोई स्नेह भी कम करके धर्मके नामेकी डीग मारे तो संभव है उससे अच्छा परिणाम (फल) भविष्यमें वह अच्छा पा ले जो अभी अत्यधिक स्नेहमें पडा हुआ है।

परिणामोंकी विचित्रता बहुत है। प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। सबका परिणमन स्वतन्त्र है स्वभाव रूप परिणमे वह तो सबकी दृष्टिमे स्वतन्त्र सुगम तया समझमे आ जाता है, और आत्मा विभाव रूप परिणमे तो वह विभाव परिणमन भी स्वतन्त्र है विभाव परिणमन भी आत्म द्रव्यका परिणमन है उसका स्वतन्त्र कर्ता आत्मा है। विभाव परिणमन यह इसलिये कहलाता है कि यह परिणमन आत्माके सहज स्वभावके अनुकूल नहीं है। विभाव परिणमनके सहज स्वभावकी अनुकूलता न होनेका कारण यह है कि आत्मा कर्मोदय रूप परको निमित्त पाकर व वाह्य पदार्थों को जो कर्मोंको आश्रय बना

कर इस रूप परिणमता है।

प्रत्येक निमित्त परके कार्यके प्रति उदासीन है अर्थात् निमित्त भूत पर द्रव्य उपादानभूत परके परिणमन रूप नहीं परिणाम सकता।

निमित्त भूत पर द्रव्य भी अपने कार्यके उपादानभूत हैं उनके निमित्तों की भी ऐसी व्यवस्था है।

७ मार्च १९५७

संतमिलन, प्रभुभजन, संतगुण कथन, प्रभुपदनमन, आगमपठन, प्रिय-हित वचन, आत्महित मनन, परहित चिन्तन, क्रोधशमन, मदमर्दन, माया-वर्जन, तृष्णा खण्डन, कामदहन आदि सत्करणोंसे भावोंकी निर्मलता बढ़ाओ।

कार्य, परिणमनको कहते हैं। परिणमन किसीका अन्य कोई कर नहीं सकता। अतः यह भी सही बात है कि किसीका कार्य अन्य कोई कर नहीं सकता।

मेरा परिणमन जब अन्य कोई कर नहीं सकता तब मेरा अन्य कैसे हो सकता है! मेरा मैं ही शरण हू और मेरा मैं ही विद्रोही हू। जब निर्मल परिणामसे परिणाम होना है वह तो मैं शरण हूँ और जब मलिन अभिप्राय रूप परिणत होता हू तब वह मे स्वयंका विद्रोही हूँ।

मेरा सामान्य स्वभाव तत्त्व, सहजभाव परमात्मसत्य है। यह ऐसा ही परमात्मा भी है और यह ऐसा ही मुझमें है। ॐ तत्सत् परमात्मने नमः।

सत्, चित्, आनन्द रूप मै भी हूँ और सत् चित् आनन्द रूप प्रभु भी है। प्रभु और मैं यद्यपि दो हैं किन्तु प्रभुत्व दो नहीं है। इसी प्रभुत्वके भाव से तो यह प्रसिद्धि हो गई है कि हम सब प्रभुके अंश हैं। हम सब प्रभुके अंश हैं, इतनी ही बात नहीं किन्तु हम सब परिपूर्ण हैं, अंशी हैं, प्रभु हैं। अंशकी बात इसलिये चल गई कि पर्यायमें स्वभाव विरुद्ध जम घट जम रहा है अतः कारण परमात्मा होने पर भी कार्य परमात्मा नहीं हू। कारण परमात्मा समझने पर कार्य परमात्मा होनेमें विलम्ब नही लग पाता। ॐ सच्चिदानन्द नमः।

८ मार्च १९५७

द्रव्यमें स्वभाव एक है उसमे भेदाभिप्रायसे अनेक स्वभाव समझे जाते हैं उनको गुण कहते हैं। गुण नित्य होते हैं। गुणका अपर नाम शक्ति भी है। शक्ति नित्य होती है क्योंकि वह द्रव्योपजीविनी है।

सामान्यतः गुणोंमे परिणमनकी शक्तिका नाम भाववती शक्ति है। यह शक्ति प्रत्येक द्रव्यमें होती ही है। इस शक्तिके कारण गुणोंके परिणमन होते रहते हैं।

यहा एक प्रश्न यह हो सकता है कि सभी द्रव्य भाववती शक्तिसे शुद्ध परिणमते रहते हैं फिर जीव और पुद्‌गलमे विभावपरिणमन कैसे आगया। उत्तरमे यही कहा जासकता है कि जीव और पुद्‌गलमे यह विशेषता स्वयं है। इन दोनोमे इसही प्रकारकी भाववती शक्ति है कि कर्मबंध उदयका निमित्त पाकर विभावरूप परिणम जाती है। और निमित्तके अभावमें स्वयं भावरूप परिणम जाती है। भाववती शक्तिकी इस विशेषताको बतानेके लिये भावशक्ति नाम रख दिया है।

यदि विभावशक्ति व स्वभावशक्ति दो प्रकारकी शक्ति स्वतन्त्र मानी जाती तो कदाचित् ससारावस्थाके सम्बन्धमे तो यह कुछ कहला भी सकते हैं कि दोनो शक्तियोका परिणमन चल रहा है किन्तु मुक्तावस्थाके सम्बन्धमें बताओ कि दोनो शक्तियोके २ परिणमन क्या चल रहे हैं। वहा तो केवल स्वभावपरिणमन . चल रहा है तो फिर यही मानना उत्तम हो गया कि विभावशक्तिके २ परिणमन है—निमित्तके सद्भावमे विभावपरिणमन व निमित्तके अभावमे स्वभावपरिणमन है। अहा देखो देखो जैन मतोंकी प्रतिभा बहुत युक्ति युक्त और अलौकिक थी।

९ मार्च १९५७

प्रसङ्ग अपसङ्ग दु सङ्ग कुसङ्ग अभिसङ्ग प्रतिसङ्ग परिसङ्ग उपसङ्ग अनुसङ्ग अवसङ्ग नि'सङ्ग विसङ्ग समसङ्ग सुसङ्ग सत्सङ्गका अर्थ समझो और इनमें हेय उपदेयका विचार करो कौन हेय है और कौन उपदेय है?

समय—आत्मा, काल, अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधू, रत्नत्रय, देव, शास्त्र, गुरु आदिको कहने हैं। इन सबका नाम समय है।

यह बहुत कठिन है कठिन ही नहीं असंभव है कि कर्मोंका नाश कर दिया जाय। यह बहुत सरल है सरल ही नहीं किन्तु न्याययुक्त है कि निज स्वभावमें रम लिया जाय निज स्वभावमे रमपरने कर्म स्वय खिर जाते हैं।

जगतमे कोई द्रव्य किसी द्रव्यका स्वामी नहीं है क्योकि समस्त द्रव्योकी सत्ता स्वतन्त्र है, परिपूर्ण है। जो है वह स्वतन्त्र है, जो स्वतन्त्र नही वह है ही नही। परतन्त्र तो कुछ होता ही नहीं।

सम्यक्त्वकी अतुल महिमा है चारित्रमोहके उदयमें ऐसा भी काम हो जावे जो तीव्र मोहमें किया हुआ सा जचता है। और कहो, अतरङ्गमे चिज्ज्योतिकी यथार्थ प्रतीति बनी रहे जिसके प्रतापसे ससारवर्द्धक कर्मबन्ध रुका रहे। विषयोंमें वृत्ति रहकर भी वियोग बुद्धि बनी रहे यह सम्यक्त्व जैसी निधिका बल है।

हे सम्यक्त्व ! तुम प्रसन्न रहो फिर मै कैसा ही रहूं आपकी छत्रछाया सब सम्हाल कर लेगी।

१० मार्च १९५७

हे सम्यक्त्व ! तेरे प्रसाद का ध्यान बना रहना ही तो चारित्र है। तेरे प्रसादमे चारित्र आयगा।

यथार्थ प्रतीतिका कभी अभाव न हो पावे यही मेरा शरण है।

सत्य वह है जो सत्‌मे हो। सतमे अन्य कुछ नहीं है। सत् तो केवल सत् ही है। सत् अखण्ड है उसमें अन्य कुछ होता ही नही। ऐसा सत् मैं भी हू और ऐसे सत् अन्य सब हैं।
सत्‌को समझनेके लिये जो विशेषतायें बताई जाती हैं उसे सत्‌में होना कहते हैं। वह है गुण और पर्याय। सम्बन्ध सत्य नहीं है। सम्बन्ध किसी भी द्रव्य का न गुण है न गुण पर्याय है।

सत्य असत्य नहीं, असत्य सत्य नही। असत्यकी तो सत्ता ही नहीं, असत्य तो मात्र कल्पनामें ही है। कल्पनामात्र हो और सत्यसा लगे वही तो असत्य है। असत्य असत्य रूपमे समझमें आवे तब वह असत्य नहीं पावेगा।

११ मार्च १९५७

जो पर है अथवा पराधीन है उस विषयकी तो हठ छोड़ना ही चाहिये क्योंकि उस हठमे आदिसे अन्त तक क्लेश ही क्लेश है।

विषय सेवनकी हठ या प्रतिष्ठा बनानेकी हठ ये महती कलुषतायें हैं। इन परिणामोमें आदिसे अन्त तक आकुलतायें ही हैं। पुनश्च ये हठ अज्ञान हैं।

हे आत्मन्! तुम ज्ञानमय हो, आनन्दमय हो, परिपूर्ण हो। फिर बताओ किस बातके लिये भिखारीसे बनकर इधर उधर भटकना। स्थिरता, धीरता व विवेकसे काम लो। तुम स्वय अनुपम, महान हो। अपना यथार्थ काम करो।

विकल्प ही तुम्हारा शत्रु है। किसी भी इन्द्रिय विषयकी कामना, नामवरीकी चाह दोनो कुहठ हैं। परवस्तु या पराधीनभाव क्षणिकभावकी आशा बनाकर परतन्त्र हो जाना बुद्धिमानी नहीं है।

अनादिकालसे भटकते हुए चले आये। आज विवेकके योग्य विचार शक्ति प्रकट है। इससे लाभ न उठाया तो बताओ हे आत्मन्! क्या पशु, पक्षी, कीडा या पेड आदि बनकर आत्मोचित उत्तम काम कर लोगे।

आत्मन्! गर्राओ नही, कुछ पुन्यका उदय पाया बाह्य वस्तुका समागम कुछ सुलभसा बन गया तो अब इसमे कुछ हठ न करो। यह स्थिति सदा नही रहती, तथा हठ करने पर तो यह और सुनिश्चित हैं कि जल्दी ही यह प्रिय स्थिति समाप्त हो जावगी। क्योकि हठ कलुषित परिणाम हैं इस परिणामके होने पर पापकी उदीरणा व पापका बध विशेष होता है।

१२ मार्च १९५७

आनन्द चाहो तो स्वभावकी सत्य आराधना करो आत्माका ध्रुव आत्मा ही है। जो ध्रुव है, स्वय है, स्वमय है, जिसका कभी वियोग सभव ही नही है, कोई जाने तब भी वह है, कोई न जाने तब भी वह है, ऐसे इस निज चैतन्य स्वभावके जानने मानने रमनेका हठ करना तो सफल होता है, किन्तु शेष परकीय या पराधीन भाव सम्बन्धी हठोंका फल उत्तम नहीं होता है।

अच्छा जरा बोलो तो—इस पर्यायमे तुम आये, कैसे जन्म लिया,

देखो रखो अपनी सम्हाल । बोलो कम, गुणो अधिक ।
देखो देखो अपनी चाल । डोलो कम, रमो अधिक ।
देखो देखो जगका जाल । सोचोकम मुडो अधिक ।
देखो देखो अपना लाल । चाहो कम देखो अधिक ।

होता स्वयं जगत परिणाम, मै जगका करता क्या काम,
दूर हटे परकृत परिणाम, सहजानन्द रहू अभिराम ।
ॐ शान्ति, ॐ शान्ति, ॐ शान्ति ।

१४ मार्च १९५७

कुछ समयसे परिणामोमे शिथिलता रहती है । जानता तो हू फिर भी शिथिलता रहती इस सम्बन्धमें क्या कहा जाय कर्मका प्रबल उदय और क्या । भैया फिर भी ज्ञान ही तो उठाता है ना । तो ज्ञानको सम्हालो । पर्याय तो एक समय रहकर नष्ट हो जाती है । द्रव्यमे पर्याय प्रति समय नवीन होती है । ज्ञान सम्हालो और संस्कार दूर करो तो तुम्हें दिखाना । द्रव्य शुद्ध है इसमें वर्तमान पर्याय एक है ! इससे पहलेकी अनन्त पर्यायें जो हो चुकी हैं उनमेसे किसीका भी अंश नही बचा है । वे न हुई की तरह हैं । गतका सोच कुछ भी नही करना । वर्तमानमें स्वाभावकी दृष्टि बनाना यही वर्तमानको सम्हाल लेनेका पुरुषार्थ है ।

आत्मन् ! यह कभी मत सोचो कि मैंने अमुक पदार्थ विषयक इच्छायें बहुत दिनोसे बनाई व यत्न भी बहुत दिनोसे किया और परिणाममें वह सयोग भी चलने लगा है तो अब इससे मुख कैसे मोडा जाय । शान्ति चाहेते हो तो सभीसे तुम्हे एकदम बेलाग, बेदर्द बेदाद सम्बन्ध तोड़ना ही पडेगा ।

भौतिक बात पौने सोलह आना पाकर भी उस सबसे मुख मोडनेमें रंच भी हिचकिचाहट न हो यही तो ज्ञान बलका काम आना कहलाता है ।

ॐणमो अरहंताणं, ॐणमो सिद्धाणं, ॐणमो आयरियाणं, ॐणमो उवज्झायाणं, ॐणमो लोए सव्व साहूणं ।

१५ मार्च १९५७

वस्तु है और वह परिणमती रहती है। सभी सत् अर्थोंका यही हाल है। इस प्रकृति पर ही यह सर्व विश्व निर्भर है। प्रकृतिही सृष्टि कर्त्ता हो रही है। जब एक नवीन पर्याय होती है तो पूर्व पर्यायका व्यय होता है सो यह प्रकृति ही प्रलय कर देती है। सृष्टि और प्रलय प्रतिसमय प्रति वस्तु मे होते ही रहते हैं। लोकोने तो किसी विलक्षण सृष्टि का नाम सृष्टि रख दिया और किसी विलक्षण प्रलयका नाम प्रलय रख दिया। ये भी सृष्टि और प्रलय है तथा अन्य समस्त प्रति समय होने वाली भी सृष्टि और प्रलय है।

प्रलय मे घबडावो नही, क्योंकि प्रतिसमय परिणाम या परिणमन तो एक ही है वह प्रलय रूप है तो वही सृष्टि रूप है।

केवल प्रलय कभी नहीं होता, केवल सृष्टि कभी नही होती।

आत्मन्! जो काम, जो भाव, गलत है वह गलत ही है कितना ही राग सतावे उसे सदा गलत ही समझते रहो तो विजयका पहला कदम यही है।

अनादिसे पापगर्तमें पडे हुए जीवको सदाचार एकदम कहासे आये, ऐसी स्थितिमे यदि कुछ सहाय है तो वह है यथार्थ श्रद्धा।

१६ मार्च १९५७

आत्मन्! अपनेको न भूलना। भले रहो या बुरे अपने आपको तकते रहना। अशुद्ध निश्चय भी साधक बन जावेगा।

निश्चयनयके ३ भेद हैं अशुद्ध निश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय, परमशुद्ध निश्चयनय। इनमे अशुद्ध निश्चयनय तो अशुद्ध पर्याययुक्त द्रव्यको देखता है। शुद्धनिश्चयनय शुद्ध पर्याय युक्त द्रव्य देखता है। परमशुद्धनिश्चयनय स्वभाव देखता है।

भैया इस समय तुम पर्यायसे शुद्ध तो हो नही, सो शुद्ध पर्याययुक्त अपनेको क्या देखोगे। स्वभाव भी है तुममे है और पर्याय है अशुद्ध सो परम शुद्धनिश्चयनयके विषय तुम बन सकते हो और बन सकते हो अशुद्धनिश्चय-नयके भी विषय।

परम शुद्ध निश्चयनयके भाव द्वारा भी अपने आपको पाते हो और अशुद्ध निश्चयनयके विषय द्वारा भी अपने आपको पा सकते हो।

बुरे भी हो आत्मन्! तो भी तुम मेरे उपयोग मे रहो। हे आत्मन्! कुछ भी होओ तुम्हारी दृष्टि सदा रहे। यही कृति मुझे अच्छा बना लगी।

नित्य निरञ्जन जय निर्नाम। सङ्कटमोचन जय अभिराम।
हे चेतन, आनन्द निकेतन, रहो विराजो मम उपयोग।
शाश्वत! सत्य! तुम्हारी रुचि सो मिटते जन्म जरादिक रोग॥
हे योगियोंके एक मात्र ध्येय! सदा जयवत प्रवर्तो।

१७ मार्च १६५७

संसारमे सर्वत्र अशान्ति है। पर पदार्थ परकी हुई दृष्टि कैसे शान्ति लेने देगी। शान्ति तो स्थिर और सदा साथ रहने वाले पदार्थकी दृष्टिसे मिलेगी। ऐसा पदार्थ है निज चेतन, चैतन्य स्वभाव।

पराधीन स्वप्नेहु सुख नाही, कर विचार देखो मन माही। विभाव इन्द्र जाल है यह सुखदायकसा लगता है किन्तु है अतिक्लेश परिणाम वाला। शारीरिक उपसर्ग भला, दैहिक रोग भला किन्तु विभावकी रुचि भली नहीं है।

हे सहज स्वभाव, हे परम पारिणामिक भाव, हे कारण समयसार! अनादिसे भटककर आज (साम्प्रत) तुम निज नाथके समझनेकी रुचि जागी है, समझनेकी वृत्ति हुई है, बडी सचेत अवस्था पाई है, अब और जो चाहे कुछ बीत जाओ किन्तु तुम मेरे नजरसे बाहर न होओ। बहुत कालमें तुम्हे पाया। तुम ही तो एक सार हो। तुम्हारा ही तो शरण साचा शरण है। हे निज नाथ! अब तो तुम्हारे अनुरूप होकर म मिलकर दुनियाकी निगाहमें मैं अपनी सत्ता खो दू।

१८ मार्च १६५७

क्या अनादि अनन्त कालमे यही सर्व कुछ सर्वस्व है जो वर्तमान सयोग मिला अथवा वर्तमान भोग मिला। यह सब क्षणिक समागम है कितनी देर का है इसके लिये लोकमें कोई उपमा नहीं मिलती। यदि कहू कि करोडों वर्षोंमे एक बार मेघकी बिजली जितनी देर चमकती है उतनी देर तो यह

बिजली चमकने जितना टाइम भी लम्बा टाइम हो गया अनादि कालमे मिले आजके वर्तमान समागमके टाइमसें ।

आत्मन् ! केवल वर्तमान क्षणिक परिणामको टाल करना है, उसे ही सुधारना है फिर कल्याण ही कल्याण है । इतना ही न संभाल सके तो फिर गजब है । कब सुधार होगा ? कब शान्ति मार्ग मिलेगा ।

यह ससारसुख सचमुच मधुबिन्दुकी तरह है । पूज्य श्री आचार्य महाराजो ने जो दृष्टान्त दिया है मधु बिन्दुका वह बहुत ठीक बैठता है । अनेक आपत्ति होने पर भी मधु मोही सोचता है यह बूद जो अभी आने वाली है इसे और ले लूं फिर विद्याधर के विमानमे बैठकर यहासें भाग निकलूंगा । आपत्तिया कितनी है, आयु रूपी चूहे जीवन डाल काट रहे हैं हस्ति रूपी यमराज भव वृक्षको जडसे उखाड रहा है चारो गतिके सर्प ससार कूपमे मुह बाये खडे हैं । यह मधुमोही आशाके वश होकर अपना भव बिगाड़ रहा है ।

थोडा ही तो कष्ट है, वर्तमान मनको समझा लो फिर आनन्द ही आनन्द है ।

निर्विकल्प परमसमाधि भावमें जो आनन्द है वह तीनो लोकोके भौतिक पदार्थ भी जुट जाये उनमे आनन्द नही है ।

१६ मार्च १६५७

जो यह विभाव परिणाम कर रहे हो यही तो ससार है । ससार और तुम ढूंढते कहां पर हो । देख लो कि इस परिणाममे तुम्हे शान्ति मिल रही या अशान्ति ।

अशान्तिको ही शान्ति समझकर ज्ञानियोकी मुह जोरी करो तो इस हठ रोगकी औषधि तो और कहीं नहीं है कैसे उन्माद हठकर तथ्य मिले उस मद मोही को ।

कल्पित शुभ वृत्तिको ही धर्म समझकर धर्मात्मापनकी पर्याय बुद्धि करे तो इस उन्मादकी औषधि तो और कहीं नहीं है कैसे उन्माद होकर तथ्य मिले उस पर्याय बुद्धिको ।

धोखे पूर्ण पुण्यके उदय वश कुछ इष्ट समागम मिल जावे उसमें ही बडप्पन समझे सो इस अज्ञानकी तो औषधि और कहीं नहीं है, कैसे अन्धकार हटकर सार दिखे इस भोंदूको।

इन्द्रियोसे अधिक काम लेने पर मानो ये इन्द्रिया घिस जाती हैं और फिर भविष्यमे इनकी कमजोरी हो जाती है। यदि इन्द्रियोको सयमित करके इन्द्रियोंको आराम दे दिया जावे तो इसमें जब तक इन्द्रिया हैं इन्द्रियोंकी पुष्टि रहेगी और आत्माकी पुष्टि तो बढती है।

आत्मन्! बताओ तुम आत्मा हो या शरीर? यदि शरीर है तो जो दिखाओ सो करो किन्तु इतना तो ध्यान रक्खो कि शरीर तो लोग जला ही देगे या शरीर कहीं पडा सड जावेगा या पक्षी पशु नोचकर बिखरा देंगे। फिर एक बार और सोचो शरीर हो या आत्मा। यदि आत्मा हो तो आत्माकी पुष्टिमें लग जाओ।

२० मार्च १९५७

श्री युत प्रोफेसर लक्ष्मी चन्द जी सा० नेचरल एक भावुक और बुद्धिमान पुरुष हैं। इतना निष्कपट निर्मद और बुद्धिमान व्यक्ति हमें अब तक नहीं मिला। होगे बहुत, किन्तु मिला नही कोई ऐसा। इनको देखते ही हमे बहुत कुछ धर्म साधनके लिये भी एक प्रेरणा मिलती है। यह हमारा एक पुण्य फल है कि बडो लगनके साथ मेरे इंगलिश अध्ययनमें बहुत ही श्रम करते हैं और वह भी निःस्वार्थ और सभक्ति। मेरी भी कुछ ऐसी आदत बन गई है कि ये आते जाते कायिक भी भक्ति करते हैं और मै कुछ सकोची और दुःखी होकर देख लेता हू साथ ही अन्तर्भावसे मन वचन कायकी किसी चेष्टासे विनय व कृतज्ञता प्रकट कर लेता हू।

दुनियामे देखो सैकडो आये चले गये। सब अपनी करामात दिखाये चले गये।

भैया देखो तो अपनी पुरानी पीडी। उनमेंसे कौन कौन अब साथ है और कौन कौन चल बसे। कुछ समय बाद तुम भी ता न रहोगे यहा।

करलो कल्याणकी बात शीघ्र। समय जा रहा है जो समय गुजर

जाता है वह फिर वापिस नही आता। सोच लो समझ लो गुन लो खूब।

मान लो, तुम प्रभु हो इसलिये वैभव मिलना कोई बडी बात नहीं है किन्तु वैभवमे ही उजड गये प्रभुताकी बरबादी हो जावेगी।

२१ मार्च १९५७

आत्माका कल्याण निर्द्वन्द्व रहनेमे है। निर्द्वन्द्वता निरपेक्ष रहनेसे बनती है। निरपेक्षतामे ही शान्ति है। निरपेक्षताके लिए एकत्व भावना और अन्यत्व भावना आवश्यक है। अन्यत्व भावनासे विकल्पमुक्त होकर एकत्व भावनासे आत्माको पुष्ट करो।

आत्माका सहाय अन्य कोई नहीं है। इष्ट समागमकी इच्छा ही क्लेश है। पहिले तो किसीको इष्ट समझना ही क्लेश है। सर्व पदार्थ भिन्न हैं उनके द्रव्य प्रदेश गुण पर्याय स्वयके उनमें हैं। अत्यन्त भिन्न पदार्थोंमे कुछ भी सम्बन्धकी दृष्टि लगाना बडा अनर्थ है।

ससार सयोग दृष्टिके बल पर ही जीवित है। सयोग दृष्टि हटने पर मोक्षका विलास है।

अत्यन्त भिन्न पदार्थोंको जबरदस्ती अपना मानना, अपना इष्ट समझना इससे बढ़कर और अज्ञान क्या होगा। इस अज्ञानने ही हमको आज तक सताया था। अब देखो आत्म क्या करता है? खुद ही खुदको खुदके द्वारा खुदमें करता है। पर वस्तुका ममत्व छोडो।

निजका आदर करो आत्मन! नहीं तो देखा है ना मार्गणास्थान, समझा है ना जीवस्थान। कितनी जीवकी भटकनायें हैं उनमे भटकना ही फल हाथ रहेगा।

२२ मार्च १९५७

आजके दिन एक चौके वाली महिला ने कहा कि आज तो महाराज अमुक भाईके यहा आहारको जावेंगे। यह सुनकर समझमे आया कि बाईजी का अभिप्राय यह है कि वहा न जाकर मेरे यहा आवें। ऐसी स्थितिमे भाव हुआ कि जिस भाईके यहा न जानेको यह कहा जा रहा है वहीं जाया जावे।

ऐसी स्थिति कई बार आजाती है और इस वातावरणसे लोग गलत

फायदा उठाना चाहते हैं। इसका प्रतीकार यही है जिसने यहाको कोई मना करने के गर्जसे अलङ्कार मे कहे उसको बात न मानना।

यह सन्यासीको जल प्रवाहकी तरह प्रयास करते रहना अधिक लाभकारी है। किसी भी चेतनसे कोई परिचय ही प्रारब्ध न करना विशेष मङ्गल है। जीवके क्लेशका कारण परपरिचय है, साथ ही मलिनताकी योग्यता अन्तरङ्ग कारण है।

बडी कठिनतासे यह नर भवका अवसर पाया आत्मन! अब तो सर्व यत्न पूर्वक आत्मामे ही एक करनेका पुरुषार्थ कर अन्य बातकी ओर रञ्च भी न झुक।

सर्व सर्व असार है एक आत्म दृष्टि आत्मोपयोग व आत्मस्थिरता ही सार है। पक्का उपयोग बना, बना अपने आपका। रञ्च भी न भटक अपने से बाहर अन्यत्र।

पक्की प्रतीतिसे भीतरके चारित्रमें चल। ऊपर क्या होना है उसे कर्म विपाक जानकर उससे उपेक्षित रह।

कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल अपने आपको मानना मोक्ष मार्गका बीज है।

२३ मार्च १९५७

आज प्रात चन्द्रावती बाई जी खण्डवा वाली मिली। इनकी अधिक वृद्ध अवस्था है फिर भी धर्म पालनके व्यवहार साधनोमे भी अति जागरूक हैं और निश्चय तत्वकी ओर उत्साह है।

धर्म ही जीवकी शरण है। धम्म सरण पव्वज्जामि। धर्मः—अर्थ आत्मनि (स्वस्मिन्) य स्वभाव धते स धर्म.। आत्मनो धर्म आत्मन. स्वभाव स्तस्याश्रयोऽपि धर्म'। धम्म सरण पव्वज्जामि।

आत्मन्! यह अवसर अपूर्व मिला है सो अपूर्व काम करके अपनेको अपूर्व बनाओ।

किसी भी अन्य पदार्थका चिन्तवन न करो, किसी अन्य पर दृष्टि न दो। अच्छा नही बनता है ऐसा तो उस अन्यका सही विचार करने लगो।

विचार ही विचारमे तो सदा रहते हो और तो कुछ करते नहीं । विचार ही अच्छे करने लगो फिर आनन्दका सन्मार्ग हाथ ही है ।

सत्य सदा सत्य रहेगा । सत्‌में जो हो वह सत्य है । सत्‌का अपत्य भी सत्य है अर्थात् सत्‌का परिणमन भी सत्य है। यह बात अन्य है कि परिणमन सदा नही रहता अत. अभूतार्थ है अथवा सत्य है किन्तु सत् ही मे तो होता अत. सत्य ही है । निश्चयनयका जो विषय है वह सत्य है जो सत्य है वह निश्चयनयका विषय है । अन्य सब विविध युक्तियोके विलास हैं ।

२४ मार्च १९५७

आत्माका चारित्र यदि गया तो वह संक्लिष्ट रहेगा । चारित्र व्यवस्थित रहने पर संतुष्ट रहेगा । हिसा झूंठ चोरी कुशील परिग्रह इन पापोका त्याग आत्माकी निर्विकल्पता का खास कारण है । शाति निर्विकल्पतामे । हिसा झूठ चोरी कुशील परिग्रहका सेवन कर निर्विकल्प न कोई रह सका और न कोई रह सकेगा ।

जो स्थान विकल्पोका कारण बने उस स्थानको सहसा छोड देना चाहिए स्थान वह विकल्पोका कारण होता है जहा ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दो सयमोमें बाधा आवे । इस बाधाके आधार पर हिसा झूठ और चोरीकी वृति भी होने लगती है वह स्थान परित्यागके ही योग्य है जहा पाच पर्यायमें से किसी भी पापके करनेको विकल्प चले ।

आत्माकी महत्ता गुणोके सद्विकाससे है। लेखसे भाषणसे लोकमे महत्ताभी जाहिर हो किन्तु वह महत्ता महत्ता नही । इसका फल तो कर्म बन्ध है वर्तमान भी तृष्णा है । भंविष्यका भी दुःख निश्चित कर लेना है ।

संयमका मार्ग असंयमके भावोके रहते हुए कठिन है । अन्यथा संयम तो अति सरल है क्योकि इसमे पराधीनता नहीं है । स्वाधीन स्वभावना संयमकी माता है । स्वतन्त्रतामे सयमवृत्ति है । वह केवल के करनेसे होता है ।

२५ मार्च १९५७

आज श्री फतेहलाल जी सिघी जयपुर वाले आये । आये इस भावमें कि मढ़ियामे प्रबन्ध ठीक हो तो यहा रह जायें । उन्हे हमारे साथ इष्ट है । इनका

विवेक और कल्याण भाव सराहनीय है। ये शिक्षित और अन्तरङ्ग से विरक्त हैं।

नाथ! कब परपरिवृत्ति समाप्त हो। माया तो माया ही है। जो था तत्व है सो दिखने वाला था। आत्माकी उपयुक्ति आत्माकी ओर ही हो इससे बढ़कर और वैभव नहीं, इससे बढ़कर और आनन्द नहीं।

इन्द्रायणफल विषयफल है। इन्द्रायणफलमें यह सुनते हैं कि वह खाने में तो मीठा लगता है किन्तु उसके खानेका फल मरण है। यही बात विषय फलकी है। विषय भोगनेमें तो रुचिकर लगते हैं किन्तु विषयभोगके उपयोग का फल आत्महनन है।

इस अनादि अनन्तकालमें यह ५०-७० वर्ष जितना जीवन है बतला, क्या मूल्य रखता है हजारों कोश लम्बे चौडे समुद्रमें की एक बूंद उस समुद्रमें गिनती करने के योग्य है किन्तु यह जीवन बूंद बराबर भी नहीं है। इस अनित्य, जीवनमें अब क्या करना है? क्या ससारमें रुलनेका अन्त सोचना है या ससारमें रुलनेकाही कार्य करना है।

जैसे अनन्तों भव बीत गये तैसे यह भी भव बीत जायेगा। अनन्तमें एककी गिनती क्या? इस एकको लौकिक बातोंके लिये न कुछ समझ कर इस समागमका धर्मके लिये प्रयोग करलो।

जानलो, मानलो, हमें कोई नहीं जान रहा है कोई जिसे जानता है वह भौतिक है। अथवा कोई जिसे जान रहा है वह खुद खुद ही है।

मत भ्रमो, मत रुलो, मत श्रम करो, सत्य आराममें रहो। ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः।

२६ मार्च १९५७

इस युगमें सर्वोच्च तत्व, अहिंसा एवं अध्यात्मक तत्वके प्रतिबोधक भगवान् महावीर स्वामीका उपकार सभी शान्तिके इच्छुक अनुयायियोंपर हुआ है।

महावीर स्वामीके सेवक देव और देवराज भीथे यह तो उनके सातिशय पुण्यका फल था। सर्वविवेको आत्माओंके आराध्य जो वे हुए यह उनके

यथार्थ मार्ग दर्शन करानेका फल है।

उनका साक्षात् तीर्थप्रवर्तन आजसे २५०० वर्ष पहले हो रहा था वही परम्परागत सिद्धान्त आज भी शास्त्रोमे निर्बाध निबद्ध हैं यह वस्तु स्वरूपके अनुरूप सिद्धान्तके प्रदर्शित होनेका फल है।

भगवान महावीर स्वामीका आत्मा इससे पहले भगवान था और फिर अवतार लिया ऐसा न था किन्तु उनका आत्मा सिद्धके भवमे प्रतीतन, उस भवके त्यागके बाद उच्च स्वर्गमे उच्च देव हुआ। वहासे आकर राजा सिद्धार्थके घर माता त्रिशलादेवीके उदरसे उन्होंने जन्म लिया। उनके इस चरित्रके जान जानेसे हमे विकासको बडा उत्साह मिलता है।

महावीर स्वामीकी आयु कुल ७२ वर्षकी थी, जिसमे उन्होने केवल ३० वर्षकी ही अवस्थामें बालब्रह्मचारी होकर कठिन सयमसाधनाकी, अत्यंत निष्परिग्रह होकर एव मौन रहकर अध्यात्म आराधनाकी आजकलकी सभव आयुके समान आयुवाले महावीर स्वामीकी यह धार्मिक विशेषता तो हृदयमे गहरा घर कर जाती है अपनेको सत्यतामे ले जानेके लिये।

महावीर स्वामीका आत्मा घातिया कर्मोके क्षयके फल स्वरूप जब सर्वज्ञ हो गया, परम आत्मा हो गया, उसके पश्चात् बिना रागके दिव्य ध्वनि हुई। इस दिव्यध्वनि को सुनकर देव, मनुष्य और सैनी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोने अपने आत्माका लाभ लिया। केवलि प्रणीत होनेके कारण यह सिद्धात आज भी अबाधित रूपसे मौजूद है जिससे अपने व पर पदार्थका यथार्थ स्वरूप ज्ञान हो जाता है।

२७ मार्च १९५७

भगवान महावीर स्वामी जैनधर्मके सस्थापक नहीं थे किन्तु अनादिकाल से चले आये हुए जैनधर्मके प्रचारक थे। इनसे पहले २३ तीर्थङ्कर और हो चुके हैं तथा उनसे पहले भी प्रत्येक चतुर्थककालमे २४ तीर्थङ्कर होते आये हैं। विदेह क्षेत्रमे अनादि परम्परासे निरन्तर तीर्थङ्कर होते आ रहे हैं। भगवान महावीर स्वामीने नया धर्म न चलाकर अनादिसिद्ध जैनधर्मका प्रसार अपनेको उसमें निहित कर दिया यह उनका अलौकिकसत्य है।

भगवान महावीर स्वामीके सिद्धान्तोंमें से कुछ मुख्य सिद्धान्त तो अवश्य जान ही लेना चाहिये। यथा—

अनेकान्त—प्रत्येक वस्तु अनंत स्वभाव वाला है।

स्याद्वाद—वस्तुके अनेक स्वभावोंकी परख अनेक दृष्टियोंसे की जाती है।

परिणमनविधि—प्रत्येक वस्तु अपनी शक्तिसे परिणमती है। केवल जीव और पुद्गल जब स्वभाव प्रति के प्रतिकूल परिणमन करते हैं तो वे किन्हीं अन्यकी निमित्ताओंको पाकर करते हैं, वहा भी वे अपनी शक्तिसे परिणमते हैं। जब वे स्वभाव के अनुकूल परिणमते हैं तब उनके परिणमन में केवल समय ही निमित है अन्य कोई पदार्थ नहीं।

पञ्चशील—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह की वृत्तिसे निर्विकल्प परिस्थितिके लिये महान् बल प्राप्त होता है अत. इस पञ्चशलका पालन शान्तिके इच्छुकोंका परम कर्तव्य है। यह पञ्चशील लौकिक व्यवस्था और शातिका भी अपूर्व आधार है।

कर्म सिद्धान्त—जीव कर्मके उदयके अनुसार सुख, दु ख पाता है। कर्मका बन्ध जीवके कषायके अनुसार होता है। कार्माण वर्गणा नामके पुद्गल स्कन्ध जो सर्वत्र लोकमें भरे हैं और प्रत्येक ससारी जीवके साथ अलग अलग अनन्त कार्माण वर्गणायें जो कर्म रूप होनेके लिये हैं बने रहते हैं। उन कर्मोंका खिरना कषाय न होने पर अपने आप होता है जैसे कि कर्मोंका बंधना कषायके होने पर अपने आप होता है।

२८ मार्च १९५७

दिगम्बरत्व—सर्वोच्च एव शाश्वत आनन्दकी प्राप्तिके लिये अविचल समाधिभाव आवश्यक है। इसकी सिद्धि तब ही संभव है जबकि समाधि भाव के बाधक एक रच भी परिग्रह न हो। यह तत्व दिगम्बरत्व याने अत्यन्त निष्परिग्रह अवस्थामें हो विकसित हो सकता है।

परमात्मतत्व—परमात्मतत्व दो पद्धतिसे जाने जाते हैं— (१) कारण परमात्मा, (२) कार्य परमात्मा। कारण परमात्मा तो चैतन्य तत्व है और कार्य परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग, परमानन्दमय परमात्मा है। कारण

परमात्माकी आराधनामें आने वाले विघ्नोंके दूर करनेके अर्थ कार्य परमात्मा की आराधना करनी चाहिये। निर्मल पर्याय याने कार्यपरमात्मात्वके विकासके लिये कारण परमात्माका आश्रय याने अभेद आराधना करना चाहिए।

सहज चैतन्य भावमय यह परमात्मतत्व नामक कारण परमात्मा सर्व जीवोंमे एक स्वरूप है। जो इसका दर्शन पा लेता है वह ससारके दु:खोंसे छूट जाता है।

जो आत्माको अशुद्ध रूपमें देखता है उसे अशुद्धोपलब्धि होती है और आत्माको शुद्ध रूपमें देखता है अथवा जो स्वभावके अनुरूप परिणमता है उसके शुद्धोपलब्धि है। अब यहा केवल यह बात शेष रह जाती है कि सकषाय अवस्थामे शुद्ध कैसे देखा जा सकता है।

शुद्धि दो प्रकारकी है—(१) द्रव्य शुद्धि, (२) पर्याय शुद्धि। द्रव्य शुद्धि तो शाश्वत रहती है जिसका इतना अर्थ है कि जो सब पर्यायोंमें रूप परिणमता रहता वह सामान्य द्रव्य। यह निर्विकल्प है। पर्याय शुद्धि पर्याय शुद्ध होने पर कहलाती है।

सकषाय अवस्थामे द्रव्य शुद्धिकी दृष्टिसे शुद्ध द्रव्य देखा जा सकता है। इस तरह भी जो अपनेको शुद्ध रूपमें देखता है उसके भी शुद्धोपलब्धि है। शुद्धोपलब्धि या तो स्वानुभवमें होती है या केवल ज्ञानमे होती है।

२६ मार्च १९५७

भावोंकी निर्मलता होना और बढ़ना व निभा जाना अलौकिक, अनुपम पुरुषार्थ है।

भावोंकी निर्मलता अपरिचयकी स्थिति बने रहने बिना नही बनती है। आत्मा अनादिसे ऐसा शक्तिहीन है कि निर्मलताकी उन्नति इसके नहीं हो पाती। और जब किसी पर पदार्थसे स्नेह रूप परिचय हो जाता है तब उसके विकल्पसे विराम नहीं मिल पाता। ऐसी स्थितिमे आत्माका पतन ही हाथ रहता है।

आत्माको शान्ति आत्माके उपयोगमे ही मिलेगी। शान्ति निज घरमें ही मिलती पर घरमें नहीं। जो शान्तिमय है वहीं शाति मिलेगी। समुद्रमें जल मिलता है रेतमें नहीं।

विकल्पोंमें आत्मा बरबाद हो गया। कितना बरबाद हो गया! क्या बतायें। हो गया! हो जाने दो। गतका शोच न करो और वर्तमानमें निज यथार्थ स्वरूपको देखो तो सहज पुरुषार्थसे सारी बरबादी मिटाकर अपनी सही आबादी पा लोगे।

घबडानेसे न लौकिक काम बनता है और न अलौकिक काम बनता है। किसी भी स्थितिमे घबटाना अच्छा नहीं है। धीर बनो। धीरता सम्यक् भावनासे उत्पन्न होती है। धीरतामे अनाकुलताका मन्त्र है। धीरता विवेक की जननी है। धीरता क्षमाकी अभिन्न हृदय सखी है।

हे धीरते! तुम्हारा शरण आत्माको अभय बना देता है।

धीर बडा कि वीर? भैया दोनोका मतलबतो करीब एकसा है किन्तु लौकिक अर्थमे ऐसा हो गया कि वीर तो कहते शक्तिशालीको और धीर कहते हैं बुद्धिमान गभीरको। तो अलौकिक अर्थ क्या है? धी बुद्धि राति ददाति इति धीर'? विशिष्टाई ज्ञान लक्ष्मीं राति ददाति इति वीर.।

३० मार्च १९५७

संसारी आत्मा जिस परिस्थितिमें होता है वह उसी स्थितिमें बन्धनके योग्य विकल्प बना लेता है? बाह्य अर्थ कोई भी पराधीन नहीं बनाता। मलिन आत्मा स्वय किसीको निमित्त पाकर किसीको आश्रय बनाकर विपरीत परिणमत से परिणमता रहता है।

ससारके समस्त दु खोके नाश करनेके पुरुषार्थको कर लेनेका मौका तो यही है! मौका मत चूक। मौका चूके ठिकाना नही। एक बार असज्ञी हुएके बाद सुलटनेका क्या पुरुषार्थ बनाया जा सकता है फिर तो केवल समयकी बात है। सुलट गया तो सुलट गया। नहीं सुलटा तो जय हरि।

हे आत्मन् विकल्पोमें मत पडा रह। किसीसे स्नेह मत बढा। नहीं तो अपने दु खसे ही तो विरामको मौका नहीं, परके दु खसे दु'ख बढा लेनेकी विपदा और ले लोगे।

दु'खसे दुःख बढते हैं और अनाकुल भावसे अनाकुल भाव बढता है प्रायः यह ही स्थिति है। पूर्ण नियम ऐसा नही है अन्यथा दु खमे कभी छुटकारा ही नही हो सकता।

यथार्थ ज्ञान वह है जिसके फल स्वरूप राग द्वेषकी वृत्ति न जगे। सम्यग्ज्ञान पानेका फल यह लूटना कि संसारके क्लेश आगे न चल सकें।

ॐ सम्यग्दृगात्मने नमः।

३१ मार्च १९५७

यह दुर्लभ मनुष्य जन्म पाया। इसके फलमें ऐसी वृत्ति बनाना जिससे निर्विकल्प ध्यानको प्रोत्साहन मिले।

अपने आपके ध्यानमें उपयुक्त रहना, अपनेमें ही अपना अधिक विचार करना, बाह्यका अधिक ध्यान न रखना। हां भोजनादि आवश्यक हैं सो उस चर्यादिमें संयमादिके अर्थ बाह्यका ध्यान तो रखना ही पडता अन्यथा सावद्य आहार विहार हो जायगा तब तो वह प्रमाद भी दोषादायक हो जायगा।

संस्थाकी चिन्ता भी गृहस्थी जैसा एक रूप है। गृह सन्यास करके किसी परमें अटक रखना न शोभा देता है और न हितकर होती है।

निश्चयनयका विषय निर्द्वन्द्व और निर्विकल्प है तो उस विषयके आश्रयसे हुई परिणति भी निर्द्वन्द्व और निर्विकल्प होती है।

निर्द्वन्द्वतामें आनन्द है और सद्वन्द्वतामें क्लेश है। निर्द्वन्द्वताका अर्थ है द्वन्द्व याने दो से रहित, एक स्वतन्त्र। सद्वन्द्वका अर्थ है द्वन्द्व याने दो से सहित संयुक्त, दूसरेके उपयोग वाला।

निर्विकल्पतामें आनन्द है और सविकल्पतामें क्लेश है। निर्विकल्पका अर्थ है विकल्प रहित और सविकल्पताका अर्थ विकल्प सहित। विकल्प अभिप्राय, हर्ष विषाद, संकल्प, ख्यालात और विचारोंको कहते हैं। विकल्पके रहते हुए आकुलताका प्रादुर्भाव है। निर्विकल्पतामें आकुलताको कोई गली ही नहीं मिलती।

१ अप्रैल

आज विक्रम सम्वत्का नवीन वर्ष प्रारब्ध हो रहा है। अनेको वर्ष जीवनके गुजर गये। आज आत्मोन्नतिके हिसाबमें कितनी सफलता हस्तगत है इस विषयमें क्या निर्णय है? जैसे पल्लव ग्राही पाण्डित्य विडम्बना है वैसे ही पल्लवग्राही संयम भी विडम्बना ही है।

थोडा त्याग थोडा राग, कभी त्याग कभी राग, मनका त्याग मनका

राग ये सब विडम्बनायें हैं ।

त्याग हो और त्याग ही त्याग हो तो वहा त्यागका आनन्द मिल जावेगा ।

राग हो और बेधडक राग हो तो रागसे अफरकर कल्याणकी ओर उपयोग आजावेगा । वह नियम तो नही बनाया जा सकता है किन्तु होता करीब ऐसा ही है । तभी तो अधिकसे अधिक राग भी ऊंचा सहनन वाला कर पाता है ।

आत्मन् ! किसी पर वस्तुके संकल्प विकल्पमे बसना अच्छा नहीं ! यदि तुम्हारे संकल्प विकल्पके अनुसार पर पदार्थकी परिणति हो गई तो उससे कहीं तुम्हारी इच्छा पूर्ण न हो जावेगी । यह तो भ्रान्त धारणा है कि एक बार अमुक कार्य हो जावे तो पीछे इस कार्यकी पूर्ति हो जावेगी या इच्छा न रहेगी यदि परकी परिणति तुम्हारे सकल्पके अनुसार न हुई तो बात भी न बनी और कर्म बन्धनका भार भी ऊपर ले लिया । सभी आपदाओमे बचनेका मात्र यही उपाय है कि संकल्प विकल्पमे मत बसा । बसो एक दम अपने ध्यान चिन्तनमें ।

समस्त आपदाओंका मूल पर्याय बुद्धि है । किसी पर्याय मात्र अपनेको अनुभवना ही मोह है । इसके रहते हुए शाति नहीं हो सकती । अत भेद विज्ञान द्वारा मोहको समाप्त करो ।

२ अप्रैल १९५७

पर वस्तुका लक्ष्य भुलानेका यत्न तो करते हो किन्तु थोडा थोडा यत्न होने पर लक्ष्यकी पूर्ति नही हो सकती है । कुछ थोडा ही समय इस रूपसे जावे कि सर्व परका लक्ष्य छोड विश्राम मिले तो वहा निर्विकल्प आत्मानुभव हो जायगा ।

संसार परिभ्रमणका मूल मोह है । मोहका मूल स्व परमें एकत्वका अभ्यास है । स्व परैकत्वाध्यासका मूल परमें आत्म बुद्धि या परमे आत्मीय बुद्धि है । इस पर्याय बुद्धिका मूल स्व परके यथार्थ स्वरूपके ज्ञानका अभाव है । इस अज्ञानका मूल प्रमाद है । अत प्रमादको छोडकर, पाये हुए क्षयोपशमका अपनी ओर उपयोग कर स्व परके यथार्थ स्वरूपके ज्ञानका यत्न करना

चाहिये। जब यथार्थ स्वरूपकी प्रतीति हो जावेगी, पर्याय बुद्धि मिटेगी, स्व परैकत्वाध्यास मिटेगा, संसार परिभ्रमण मिट जावेगा।

सदाचारकी ओर प्रगति होना आत्माकी उन्नति है। सदाचार दो प्रकार का है अन्तरङ्ग सदाचार, बाह्य सदाचार। अन्तरङ्ग सदाचार तो निज स्वभाव की दृष्टि और उसकी स्थिरता होना है। बाह्य सदाचार हिंसा, झूठ चोरी, कुशील और परिग्रह इन पापोंका त्याग होना है।

ऐसा नही हो सकता कि बाह्य सदाचारका तो दुश्मन रहे और अन्तरङ्ग सदाचार हो जावे।

अन्तरङ्ग सदाचार मुख्य है तो बाह्य सदाचार उसकी पोषक है अथवा बाड है।

जिन्होने विषय कषायके परिणामको जीत लिया वे उपास्य हैं, धन्य हैं।

ॐ श्रीजिनाय नम'।

३ अप्रैल १९५७

सम्यग्दर्शन सम्यक् का दर्शन है। सम्यग्दर्शन सम्यक् द्वारा किया हुआ दर्शन है। सम्यग्दर्शन सम्यक्के लिये किया हुआ दशन है। सम्यग्दर्शन सम्यक् दर्शन है। सम्यग्दर्शन सम्यक् अभिप्रायसे जायमान दर्शन है। सम्यग्-दर्शन सम्यक् नयसे जायमान दर्शन है।

मिथ्यादर्शन–मिथ्या भावका दर्शन है। मिथ्यादर्शन–मिथ्या (विकार) का दर्शन है। मिथ्या दर्शन–मिथ्या अभिप्रायके द्वारा किया हुआ दर्शन है। मिथ्यादर्शन–मिथ्याके लिये किया हुआ दर्शन है। मिथ्यादर्शन–मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शन–मिथ्या अभिप्रायसे जायमान दर्शन है। मिथ्यादर्शन–मिथ्यानयसे जायमान दर्शन है। मिथ्यादर्शन–मिथ्या विकारी) आत्माके द्वारा किया हुआ दर्शन है। मिथ्यादर्शन–मिथ्या (वस्तु स्वरूपसे उल्टे तत्व का दर्शन है।

मिथ्यात्वके स्थान अनेक हैं। सम्यक्त्वका स्थान एक है।
मिथ्यात्व सहेतुक है। सम्यक्त्व अहेतुक है।
मिथ्यात्व विभाव पर्याय है। सम्यक्त्व स्वभाव पर्याय है।
मिथ्यात्व विकार भाव है। सम्यक्त्व अविकार भाव है।

मिथ्यात्व ससार मूल है	सम्यक्त्व मोक्ष मूल है।
मिथ्यात्व पराधीन है	सम्यक्त्व स्वाधीन है।
मिथ्यात्व परम्परया अनादि है	सम्यक्त्व परम्परया भी सादी है।
मिथ्यात्व पर्यायाश्रयज है	सम्यक्त्व द्रव्याश्रयज है।
मिथ्यात्व पराश्रयज है	सम्यक्त्व स्वाश्रयज है।
मिथ्यात्व सविकल्प है	सम्यक्त्व निर्विकल्प है।
मिथ्यात्व भेद विषयक है	सम्यक्त्व अभेद विषयक है।
मिथ्यात्व अकल्याण है	सम्यक्त्व कल्याण है।

४ अप्रैल १९५७

अनियम, असमयम, अशमयम, अशयम, अशसयम, देशसंयम संयम इन सबमें उत्तरोत्तर विशेष बलवान् हैं।

आज तुमने सब कुछ जान लिया। आत्माको भी समझते हो। वह चैतन्यमय है, अमूर्त है, स्वतन्त्र सत् है शरीरसे भिन्न है। मोक्ष मार्गको भी समझ लिया। अब तो सर्व विकल्प छोडकर अपने राममें आरामसे रहजाना मात्र कर्तव्य रह गया।

यह कर्तव्य किसी भी वाह्य अवस्थामें निभाया जा सकता है। न कहीं भी होओ, किसी समय होओ, किसी संगमे होओ, यह आत्मोपयोगका कार्य ले स्वाधीन हैं, कभी भी, कहीं भी निभालो इसमे विघ्न रूप है तो है अपनी कमजोरी व पर दृष्टि।

ॐ तत् सत्। ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ। द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और विषय भूत पदार्थों का विजय चारित्रका सर्व प्रथम कदम है। इनके जीतनेका उपाय इनसे उल्टोंका आश्रय करना है।

द्रव्येन्द्रिय जड़ हैं तो जडसे विपरीत चैतन्य स्वभावका आश्रय द्रव्येन्द्रियोंके जीतनेका उपाय है।

भावेन्द्रिय खण्ड खण्ड रूपसे ज्ञान करता है तो खण्ड ज्ञानके विपरीत अखण्ड विज्ञान घन चैतन्य स्वभावका आश्रय भावेन्द्रियोंके जीतने का उपाय है।

विषयभूत पदार्थ अन्य है उनका सगसा ज्ञानमे हो रहा है उस सग

वाले विषयोंको जाननेका उपाय असग निज स्वभावका आश्रय है।

५ अप्रैल १९५७

जिस ज्ञान पर दुनियावी प्राणी, मनुष्य इतने इतराते हैं उस इन्द्रिय ज्ञानमे अनेक दोष हैं यथा—

(१) ऐन्द्रिय प्रति अर्थके अनुसार बदलता है विकल्प करता है। (२) व्याकुल है। (३) राग द्वेष सहित है। (४) दुःख रूप है। (५) निष्प्रयोजन है। (६) मोहमुक्त याने प्रमत्त है। (७) निकृष्ट है अनेक हेतुवोकी अपेक्षा रखता है। (८) क्रमवर्ती होनेसे व्युच्छिन्न है (९) विचारके यत्नसे होनेसे कृच्छ्र है। (१०) बंधका कारण होनेसे विरुद्ध है। (११) बंधका कार्य होनेसे कर्मज है। (१२) आत्माका धर्म न होनेसे अश्रेय है। (१३) अशुचि है क्योंकि कलुषित है। (१४) पराधीन होनेसे परोक्ष है। (१५) इन्द्रिय जन्य होनेसे अमूल्य है। (१६) संशयादि दोषोकी इसमे संभावना है। (१७) घटा बढ़ीके कारण मूर्च्छित है। (१८) ज्ञानावरणके उदय की संभावना होनेसे अशरण है। (१९) यह इन्द्रिय ज्ञान अमूर्तको नही जानता मूर्तको ही जानपाता है। (२०) मूर्तमे भी सूक्ष्मको नही जान पाता, स्थूलको ही जानसकता है। (२१) स्थूलमे भी इन्द्रिय ग्राह्यको ही जान पाता है (२२) इन्द्रिय ग्राह्यमे भी भूत भविष्यत्को नहीं जान पाता, वर्तमानको ही जानपाता है। (२३) वर्तमानमे भी सन्मुखको ही जान पाता है। (२४) सन्मुख होने पर भी अब ग्राह्य होने परही जान पाता है। (२५) इतना होनेपर कदाचित जानता कदाचित नहीं जानता—जैसी शुद्धि हो। (२६) ज्ञानावरण का क्षयोपशम हो तभी जानता। (२७) ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर भी वीर्यान्तरायका क्षयोपशम हो तभी जानता। (२८) पञ्चेन्द्रिय जाति नाम कर्मका उदय होनेपर यह ज्ञान हो सकता है। (२९) मन अङ्गोपाङ्गका उदय हो तब होता। (३०) पञ्चेन्द्रिय जाति नामन अङ्गोपाङ्गका बंध होनेपर भी यदि सङ्क्रमण न हो तो ज्ञानका काम बनेगा। (३१) पर्याप्तिज्ञान कर्मका उदय हो याने शरीरादि पर्याप्त हो तो जानता। (३२) प्रकाशादि मिले तब ही जानता। (३३) तद्विषयक संस्कार हो तब ही जानता। (३४) परम्परावलोकन बन रहा हो तब जानता। (३५) इतने हेतुसे होनेपर भी

इन्द्रियजज्ञान खंडित है। क्योंकि एक एकको ज्ञान पाता। (३६) इतनेपर भी प्रदेशचलनात्मक है यह।

६ अप्रैल १६५७

मैं आत्मा ही क्या? समस्त आत्मीयें, समस्त आत्मायें ही क्या? समस्त द्रव्य मात्र केवल अपने अपने द्रव्यका ही परिणमन कर पाते हैं। इसमें सन्देहको रंच भी स्थान नहीं। प्रत्यक्ष भी अनेकों उदाहरण दिख रहे हैं।

जो किसी बाह्य वस्तुका आश्रय कर दुर्भाव करता है वह उस बाह्य वस्तुका तो कुछ भी नहीं करता, केवल अपना ही अनर्थ करता है। इस तरह की खबर मोहमें नहीं रहती और इसी कारण बाह्य अर्थमें एकमेक हो जाते हैं।

इस जगतमें अपनी समाल कर लेना कठिन किन्तु सर्वोत्त्च काम है। बेसुधपन तो जीवने अनादिसे अपनाया विषय कषायकी बेसुधपन ही रहा तो मनुष्य जन्मका क्या उपयोग हुआ विचारो। विषय कषाय का कार्य तो तिर्यञ्च, पशु पक्षियोंके भवमें प्रयुक्त की जा सकती थी।

इस जन्म की सफलता स्वात्मीय आनन्द का लोभ लेनेमें है। यह स्वाधीन आनन्द अनुपम है। इस आनन्दके प्राप्त होनेपर फिर वह सहज आनन्द भुलाये भी नहीं भूला जाता।

सत्य पथ विकल्पोंका अभाव है। विकल्पोंका सद्भाव अपथ है। अपथ अपथके विनाशका आदि उपाय सत्सग है और है साथ ही स्वाध्याय।

स्वाध्यायमें स्व का अध्ययन, मनन है। जिस अध्ययनसे स्वका मनन हो वह स्वाध्याय है।

७ अप्रैल १६५७

प्रत्येक जीव के दुःख होनेमें उस ही जीव का अपराध है। कोई किसी के अपराधसे दुखी नहीं होता। परसे हित या अहित मानना ही बडा अपराध है। इस अपराधमें दुःख स्वयंसिद्ध है। सम्यग्ज्ञान होना, भ्रम संस्कार बना रहना अनर्थ ही उत्पन्न करना है।

हे आत्मन्! अनादि से अब तक अनन्त काल बीत गया। कब क्या न पाया होगा। किसका साथ रहा अब तक।

आत्माके साथ कर्मका बन्ध है ! कर्मके बंध विना आत्माकी ऐसी विचित्र परिणतियां हो नहीं सकती ।

कोई आत्मा कितना भी बरबाद हो जावे जब भी चेते तभीसें समझे अब भी बचेकी लाज रखी जासकती है। सुधार उत्तरोत्तर सुधार ही लाता है।

बिगाड़के बाद बिगाड हो गया अब सुधारको क्या रहा सुधार कैसे हो सकता है यह कायरोकी भावनायें हैं । सौदास कब सुलटा ? अञ्जन चोर कब सुलटा अनेको उदाहरण हैं ।

स्वय स्वभावसे निर्विकल्प है आत्मा । निर्विकल्प हो सकता थोड़े प्रयास से भी।

धर्मके मार्गमे अनेको लगा रहे । जिनको नाम प्रतिष्ठाका भाव नही उनकी धर्मकी लगन तो सच्ची है और जिनके नाम प्रतिष्ठाका व्यामोह है उनकी दशा गृहस्थसे भी निम्न है ।

महान् आनन्द तुच्छ आनन्दकी बलि पर ही मिल सकता है ।

८ अप्रैल १९५७

आज श्री भद्भगवान् रामचन्द्रजीके जन्मका दिवस है । श्री रामचन्द्र जी अद्भुतायन मर्यादा पुरुषोत्तम प्रजाजनके निकट सम्पर्कमे रहने वाले महा-पुरुष थे। थे भी तो बलभद्र वे ।

सुख शान्ति चाहो तो पुण्य पाप सबकी आहुति करो। एक दम उपेक्षा कर दो सर्व समागत सचित्त अचित्त मिश्र पदार्थकी ।

सर्वजन सुकर सर्वजनरम्य वर्तनोकी उपेक्षा कठिन है किन्तु निजस्वरूप जान लेने पर यह निज वर्तन सुकर है । हिम्मत करो तो एक साथ जैसे बड़े वृक्षको उठाकर फेंक देनेके लिये सर्व यत्नसे एक बारमे ही हिम्मत करी जाती है ।

धिक्कार है उस उपयोगको जिसमें पर विकल्प बनाया जाता है। किस परके सोचनेसे क्या लाभ है ? जन्म क्यो व्यर्थ गमा रहे हो। सर्व परको छोड़ कर एक निज शुद्ध चैतन्य तत्वकी दृष्टि बनाये रहो ।

वह आत्मा धन्य है जिसके उपयोगमें निरन्तर बस रहा है शुद्धचैतन्य तत्व ।

मुझ इस चैतन्य स्वरूपको अन्य कोई जानता ही नहीं है। यदि कोई जानता भी है तो वह अपने आपके तत्वमे समाविष्ट हो जाता है। अब मेरा किससे सम्बन्ध है। मोहका मोहसे मोहात्मक सम्बन्ध बनाया जाता है। इससे अतिरिक्त अन्य कुछ नही है।

९ अप्रैल १९५७

ब्रह्मचर्य परम तप है। आत्म तत्व मे अनवरत वर्तने वाले रुचि करने वालोके तो यह ब्रह्मचर्य तप अनायास बनना ही है किन्तु जो ऊपरी तत्वकी जानकारीके बल पर भी ब्रह्मचर्यकी साधना करते हैं उन्हें भो ब्रह्मचर्यकी सिद्धि होती है और इससे उन्हें आनन्द प्राप्त होता है।

ब्रह्मचर्यको विरुद्ध भाव मात्र पागलपन है। सारका तो नाम रच भी नहीं है। विरक्तियोकी गिनतीका छोर पाना भी सरल नही है ब्रह्मचर्यके घातमे।

आत्मन् अपनी दया करो। विवेकके साथ रहो। क्षणिक भावावेशमे बहकर गिर न जाओ। आत्म कल्याणका यह अवसर चूकने पर बताओ अधिकार पूर्वक कह सकते हो कि कब ठिकाना पावोगे।

दुर्विचारका विश्वास न करो। यह अहितके लिए ही प्रकट होता है। यह वर्तमानमे सुखद मालूम होता है किन्तु परिपाक काल प्रकट दारुण दुःख देता है।

ये विभावो! तुम तो भावक ही रहते हो भाव्य तो बनते नहीं फिर तुम्हारे होनेमे तुम्हे क्या लाभ है। होकर हमे और बरबाद करते हो। कुछ सज्जनता लाओ मेरे पुराने प्यारे।

दुर्भाव केवल कल्पनाकी भीतके चित्रण हैं। उनका मिटा लेना कोई कठिन बात नहीं है। सद्भूतका मिटाना कठिन है व कठिन क्या असंभव है किन्तु असद्भूतके मिटानेमें कौनसी कठिनाई है।

१० अप्रैल १९५७

नाटकको नाटक कर दो।

कौन कैसा है इसके निर्णयमें तुम्हे अन्तरमें लाभ होगा या मै स्वय कैसा हू स्वभावसे और क्या होता है विभावमे तब मै अपनी ओर उन्मुख होऊं

री क्या बीतता है स्वभावमे और विभाव किस दशाका शरण लेता है आदि निजके निर्णयमें तुम्हे लाभ होगा।

आत्माका आत्मीय आत्मा ही शरण है। हे निज नाथ! अब न छुपे रहो उपयोग की दोनो आखोमे विराजमान रहो। तुम्हारे इस नाटक में तुम्हे कोई लाभ है? नही, तो नाटक समाप्त करो।

नाटकको नाटक कर दो न अटक इति नाटक। इसकी अटक न रहे। नाटककी अटक न रहे। नाटक तो होता ही रहेगा। बिना अटकके नाटक शुद्ध नाटक होगा। अटक वाला नाटक अशुद्ध नाटक होगा।

शिवोऽहं, शुद्धोऽहं, बुद्धोऽहं, नित्योऽहं, निरञ्जनोऽहं, ज्ञायकैकस्वरूपोऽहं, ज्ञानमात्रमेवाहं, परमशिवोऽहं, सदामुक्तोऽहं, सदाशिवोऽहं परमपारिणामिकभावरूपोऽहं, चित्स्वरूपोऽहं, चिद्रूपोऽहं, निःशल्योऽहं, अकर्ताऽहं, अभोक्ताऽहं, अमूर्तोऽहं, निराकारोऽहं, स्वस्थोऽहं।

ब्रह्मास्मि, ॐ शुद्ध चिदस्मि, तत्वामस्मि।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
जानातो मा येकत्वं गमय! असतो मा सदगमय।
कर्मणो मा स्वयं गमय।

११ अप्रैल १९५७

मनुष्य भवका क्षण क्षण अमूल्य है। श्रेष्ट मनवाला है, उत्तम होशके अवसर का दाता है यह। इतनी श्रेष्ठता पाकर भी यदि मन बहलाव, परानन्दानुभव, विविध अनात्मीय विज्ञान आदिमें समय बिता डाला तब गया समय तो हाथ न आयेगा केवल उस अच्छे योग्य कालके लिए पछताना रहजावेगा।

मनका वश करना सबसे बडा उच्च काम है। यह सम्यग्ज्ञान द्वारा वश किया जाता है।

जगत का कोई भी पदार्थ अपनेमे बद्ध नहीं और न मे जगतके किसी पदार्थसे बद्ध हू। एक चितको वश किया सर्व जगतसे उपेक्षाकी स्वतन्त्रता स्वानन्द सर्व कुछ अपने ही हाथ है।

कोई पदार्थ मुझे वशमे नहीं करता मे ही स्वयं किसीको इष्ट कल्पित

करके स्वयं परके वशकी कल्पना करके पराधीन अनुभव करना। यह जगत स्वतन्त्र पदार्थोंका समूह है। पदार्थोंकी ऐसी स्वतन्त्रता है वह अपनी योग्यता के अनुकूल परको निमित्त मात्र पाकर विशिष्ठ विशिष्ट परिणमनसे परिणत होता रहता है। तथा अपनी स्वाभाविकता योग्यताके अनुकूल अवशिष्ठ परिणमन करता रहता है।

पदार्थ स्वय परिणत होता है यह पदार्थका स्वत.सिद्ध स्वभाव है। जो परिणमता है परिणमने दो उसमें मेरा क्या ?

१२ अप्रैल १९५८

आज श्री १००८ भगवान महावीर स्वामीकी जयन्ती है। वीर प्रभु का महत्व इसलिये है कि उनका निष्पक्ष उपदेश ऐसा पवित्र है जिसके अनुसरणसे भव्य जीव शान्ति को प्राप्त हो जाते हैं। वीर यदि राजपुत्र थे तो इस नाते भी मेरे उपास्य नहीं। वीर का पुण्य विशिष्ठ था तो इस नाते भी मेरे उपास्य नहीं। वीर उपास्य इसी हेतू है कि उनके उपदेश के अनुसरणसे आत्मा सत्य शास्वत आनन्द पा लिया जाता है।

वीर प्रभुका स्वर्गसे अवतरण हुआ किन्तु वहा यह न समझना चाहिये कि स्वर्गमें वे उच्च पदस्थ थे और उस ऊंचे पदसे उतर कर आये यह बात नहीं है।

अवतार की बात इसलिये प्रसिद्ध हो गई कि स्वर्गका स्थान तो आकाश में ऊपर है और मनुष्य लोक स्वर्गसे नीचे है। स्थान के ऊपर नीचे होने से कुछ छोटा वडापन नही है। वस्तुत सर्वश्रेष्ठ भव इस मनुष्य भवका है।

वीर वीर थे महावीर थे वर्द्धमान थे सन्मति थे अतिवीर थे। इसलिये कि ब्रह्मचर्यसे उनके जीवन का प्रारम्भ था और पूर्व ब्रह्मचर्यमें जीवनकी समाप्ति थी।

वीर प्रभुके उपदेशका सार यह है जिसें श्रीमत्कुन्द कुन्दाचार्य जी ने कहा है।

रत्तो बंधदि कम्म मुचई जीवो विरागसपतो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥

रागी जीव कर्मोंका बन्ध करता है किन्तु विरागी जीव कर्मोंसे छूट

आना है यह जिनेन्द्र देवका उपदेश है, इसलिये हे हितके इच्छुको कर्मोंमे राग-मत करो।

१३ अप्रैल १९५७

आत्माका कर्तव्य है कि चैतन्य मात्र निज ध्रुव स्वभावकी दृष्टि बनाये और इसी ओर निरन्तर उपयोग रहे। प्रागवस्था यथाशक्ति यह होगा पश्चात् यह निरन्तर होगा। इसके अतिरिक्त अन्य कोई काम है ही नही। अन्य कार्य जिन्हे भूलसे अपने सम्बन्धित मानता था, उन्हे होते हे तो होने दो न होते हो तो तुम्हारा जन उस ओर चित्त देना नहीं। अन्यकीय कार्योंसे तुम्हारा हित नहीं। तुम्हारी शान्ति और अशान्ति तुम्हारे उपयोगके आश्रित है।

जब तक आत्मस्थिरता नहीं हुई तब तक आत्म स्वभावका लक्ष्य यत्न करके भी बनाये रहो। यदि आत्म स्वभावके लक्ष्यमें कोई विघ्न बाधायें उत्पन्न होती हो तो उन भावात्मक विघ्न बाधाओंकी निवृत्तिके अर्थ णमोकार मन्त्रका परमेष्ठियोंके स्वरूपका ध्यान रखते हुए स्मरण करते रहो।

आत्मन्! जान तो लिया शांतिका मार्ग, यही है ना शान्तिका मार्ग कि समस्त यह दृश्यमान पर्याय हैं अध्रुव है तेरेसे अत्यन्त भिन्न है तथा तेरा यह शरीर भी तेरा नहीं है। सर्व अपने अपनेमे ही अखण्ड सत् हैं अत किसी का कुछ तीन कालम भी किसी प्रकार हो नहीं सकता। अब कर्तव्य यही है ना कि ऐसा ही समझते रहो, किसी अन्य पदार्थकी ओर मत झुको।

यह भावात्मक यत्न कर लो अब जल्दी कर लो।

समय जा रहा है इसकी तो परवाह नहीं क्योंकि समय तो जावेगा भी और आवेगा भी। परन्तु विषाद तो इस बातका रहेगा कि सम्यक्त्व व चारित्र के योग्य अवसर पाकर उचित कार्य न किया तो अनुचित अवस्थाओंम रहना पडेगा।

१४ अप्रैल १९५७

आत्मन्! निर्विकल्प स्थिति तब तक कठिन है जब तक निर्विकल्प स्थितिका एक बार भी स्वाद न आवे।

यदि एक बार भी निर्विकल्प स्थितिका स्वाद आ गया तो चाहे प्रबल कर्मोदय वश निर्विकल्प स्थितिका वियोग बहु काल तक रहे तथापि अनक

अवसर प्राप्त हो सकते हैं निर्विकल्प स्थितिके अनुभवके और कोई समय ऐसा आवेगा कि निर्विकल्प स्थितिके अनुभवन शीघ्र शीघ्र होवेंगे उस समय ऐसा इस शुद्ध परिणमनका प्रवाह चल जावेगा कि विकल्पकी गदगी सदाके लिये मिट जावेगी ।

यत्न करो, चाह मत करो । चाहसे सिद्धि नहीं होती, सिद्धि यत्नसे होती है । मोक्षको सिद्धि मोक्षकी चाहसे नहीं होगी, मोक्षके यत्नसे होगी मोक्षका यत्न यथार्थ ज्ञानका अनुभवन है ।

सम्यग्दृष्टि मोक्षकी चाह नहीं रखता किन्तु आत्म स्वरूपकी यथार्थता अवगत हो जानेसे मात्र ज्ञाता दृष्टा रहनेका परिणमन करता जाता है । कर्मोदयवश विडम्बनायें भी सामने आ जावें तो उनमें रहकर भी उनका ज्ञाता रहता है ।

धन्य है सम्यग्दृष्टि आत्माकी लीला । यही प्रभाव यही चमत्कार उसकी विजय है और पूर्ण विजयकी जड़ है । सम्यक्त्व ही श्रेय है, आनन्दका सर्वस्व है ।

१५ अप्रैल १९५७

माया, मिथ्या और निदान ये तीन शल्यें हैं । माया तो, पाप करनेके परिणाम हो और ऊपरसे लोगोको पापी न जचाना हो, ऐसे अवसर में होती है । यह एक अन्धकार को स्थिति है । आत्माकी इस परिणतिमें अवनति है । क्योकि निर्विकल्प अनुभवकी बात तो गई गुजरी, पुण्य भावका भी यहा अवसर नहीं ।

मिथ्याभाव अज्ञानदशामे होता है । जहा वस्तुकी स्वतन्त्रताकी प्रतीति नहीं वहा ही परसे अपना सम्बन्ध समझने रूप मिथ्याभावकी उत्पत्ति है । यह भी अन्धकारकी स्थिति है । आत्माकी इस परिणतिमें अवनति है क्योंकि निर्विकल्प अनुभवकी बात तो गई गुजरी, पुण्य भावका भी यहा अवसर नहीं ।

निदान सासारिक सुखकी चाहको कहते हैं । चाहसे सिद्धि नहीं है । कदाचित् विशिष्ट तप संयम वालोंके तपस्यासे कम पदकी चाह होने पर चाह की सिद्धि हो जावे तो उस सिद्धिको हानि ही समझना । निदान का भाव शुद्ध तत्वके आनन्द विना होता है । यह भी एक अन्धकारकी स्थिति है । आत्मा

की इस परिणतिमें अवनति है।

तीनो शल्योसे वर्जित आत्मा पूज्य है। तीनो शल्योसे रहित आत्माका सत्सङ्ग लाभकर है।

कोई बातोकी चतुरतासे सङ्गमे किसीको बनावे सङ्ग वालोकी सख्या बढावे और वहा संगमें रहने वाले सन्तुष्ट भी रहे तो भी उनसे अच्छा तो उनका सङ्ग है जो तीनो शल्योंसे रहित हैं, किसीसे विशेष बात भी नहीं करते हैं और न अपना सङ्ग बढाते हैं और निरपेक्ष रहते हैं। ऐसे योगीका सत्सङ्ग मुझको विशेष लाभदायक है।

१६ अप्रैल १९५७

सर्व सम्मत तत्व इतना है कि शान्ति मिलना चाहिये। उसका क्या उपाय है यह सर्व सम्मत एक न हो सका।

अखण्ड एक सत्के भूलसे चलें तो उपाय भी सत्य एक निकल आवे।

पहिले तो स्वयंके विषयमे ही अनेक धारणायें हैं कोई मानता है—

(१) समस्त लोकमे एक ही आत्मा है उसकी मन पर छाया है तो मन ही चेतनाका सग पाकर विकल्प करता और दुःखी होता है।

(२) आत्मा अनेक है और उन सबको ईश्वरने बनाया है।

(३) ईश्वर ही चेतन अचेतनके रूपमे अपना विलास करता है ईश्वरके अतिरिक्त कुछ है ही नही।

(४) आत्मा अनेक हैं और प्रत्येक आत्माके साथ प्रकृति लगी हुई है। सुख, दुःख, शुभभाव अशुभभाव सभी विकारोको प्रकृति करती है और भोगने पडते हैं उनके फल आत्माको।

(५) पाप, पुण्य करता है आत्मा और उसका फल देता है ईश्वर।

(६) पाप पुण्य भी ईश्वर कराता है और फल भी ईश्वर देता है।

(७) प्रकृति ही भावोको करती है और फलोको भोगती है आत्म भ्रमसे उन्हे अपनाकर कर्ता भोक्ता बनता है!

(८) समस्त पदार्थ अनादिसे अनन्तकाल तक अवस्थित हैं और प्रति समय वे परिणमन करते रहते हैं। वैज्ञानिक ढंगसे जैसे भौतिक पदार्थोंका निमित्त नैमित्तिक भावसे परिणमन समझमें आता है वैसे ही आत्माका भी

निमित्त नैमित्तिक भावसे परिणमन होता चला आया है। निज शुद्ध स्वभाव की दृष्टिसे इसका परमात्मावस्थारूप परिणमन हो जाता है। पर लक्ष्यसे जन्म मरण रूप संसार बना करता है। क्या सत्य है सोचो।

१७ अप्रैल १९५७

सत्य उसे कहते हैं जो सत्‌मे हो। सत् क्या है ? इसका निर्णय बिना सत्य नही जाना जा सकता। सत् वह होता है कि जो एक परिणमन जितनेमे होना ही पडता और जितनेसे बाहर कभी नही हो सकता। इस दृष्टिसे देखने पर सत्‌की यथार्थ पहिचान हो जाती है। इस तरह प्रत्येक आत्मा सत् है। एक एक अणु सत् हैं। सूक्ष्म दृष्टिसे देखने पर अन्य द्रव्य भी सत् हैं।

अब प्रत्येक द्रव्यकी बात उसही एक द्रव्यमे देखी जावे। इस प्रकारकी दृष्टिसे स्वतन्त्र रूपसे देखा गया तत्व सत्य है।

आत्माका चरित्र सबसे बडा वैभव है। चरित्र खोकर जो लौकिक वैभव पानेका यत्न करता है वह कीमती मणियोको पाकर उससे पैर धोनेके काम जैसा काम करता है अथवा चन्दनके पेड जलाकर बर्तन माजके लिये राख पानेका यत्न करता है।

आत्म चारित्र सर्वोपरि चीज है। कितनी ही आपत्तिया भी आवो फिर भी चरित्रकी रक्षा करना अन्त तक कर्तव्य है।

चारित्रमें प्रधान ब्रह्मचर्य और सरलता है। व्यभिचार भी पतन है और छल कपट भी पतन है। इन दो ऐबोसे बचकर चलने वाले अन्य ऐबोसे सुगमतया बच जाते हैं।

मनुष्यको यदि आत्मीय उत्थान करना है तो ब्रह्मचर्य और सरलता इन दोनोका आदर करना चाहिये।

१८ अप्रैल १९५७

मनुष्य छल करनेके पापसे तब तक दूर नहीं हो सकता जब तक छुपकर किसी कार्य करनेकी आदत समाप्त न कर दे।

परवाह नहीं, चाहे वह खोटा काम हो किन्तु उसे छुपकर न करे।

परवाह नहीं, चाहे वह अच्छा काम हो किन्तु उसे छुपानेका यत्न न करे। हा प्रकट करनेका भी यत्न न करे।

ब्रह्मचर्य ही सत्य जीवन है। शरीरका सर्व बल वीर्यमें है इसी कारण इस धातुका नाम वीर्य रखा गया है वीर्य माने बल याने शक्ति। वीर्य बल है।

शरीरसे वीर्य निकलना बडी भारी हानि है। शरीर पुष्ट रखनेके लिये लोग अनेक प्रकारके आहार करते हैं अनेक यत्न करते हैं यदि एक ब्रह्मचर्यको अपना लिया जावे तो यही एक यत्न सर्व सफलताओ का मूलहो जाता है।

ससारमें कोई किसी का साथी नहीं। निमित्त नैमित्तिक अब ऐसा है कि जीवने किसी भी वस्तुसे स्नेह किया, परिचय किया कि अपने स्वतन्त्र परिणमनसे वह पराधीन बन गया।

पराधीनता ही महान क्लेश है पातक है। पराधीनता याने क्लेश न चाहने वाले जीव किसी भी पर पदार्थ का परिचय न बढावें।

अपनेमे पूर्ण परिचित रहना अन्यसे अपरिचित रहना अध्यात्मयोगकी महती साधना है।

दिग्भ्रम हो जाने पर तीव्र गतिसे भी चला जावे तो भी इष्टस्थानकी प्राप्ति निश्चित नहीं है उसी प्रकार मोहभावके होने पर क्रिया काण्ड कितनी भी अधिक किये जावे उससे शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती दृष्टान्तमे तो सभव भी है इष्ट प्राप्ति किन्तु प्रकृतमें तो मोहके रहते हुए असभव ही है शान्ति प्राप्ति।

१६ अप्रैल १६५८

रे मन! तूने कितने ही भाव विचारे, कितने ही भोग भोगे, कितने ही कार्य किये किन्तु तू सब कुछ कर चुकने व भोग भोग चुकने पर भी सदा भूखा प्यासा रहता है। इसका कारण यह है कि कर्म और भोग तेरी शान्तिके उपाय नहीं हैं। तेरी शान्तिका उपाय तो मात्र सम्यक् ज्ञान है।

सम्यक् ज्ञान वह कहलाता है जहा वस्तुकी स्वतन्त्रताका प्रतिभास बना रहे। वस्तु स्वातन्त्र्यकी प्रतीति रहते हुए जीव दुखी नहीं रह सकता। वस्तु

स्वरूपके विरुद्ध विचार होने पर जीवको दु खी होना पडता है।

वस्तु तो है और भाति और कोई देखे और भाति, तब जैसा जाना वैसा वस्तुमें परिणमन न होने पर क्षोभ होना प्राकृतिक बात है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष चाहे वैज्ञानिकोकी बातें न जानता हो तो भी उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्‌को तो जानना ही है और जानता ही है सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।

इन दो ज्ञानोमें प्रायोजनिक सर्व ज्ञान आ गया। सर्वत् सत् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है इस ज्ञानमे सर्व द्रव्योका ज्ञान आ गया। द्रव्योको स्वतन्त्र अखण्ड ज्ञान कर सर्वसे अप्रभावित होकर स्वमे उपयुक्त रहना ही तो महान् प्रयोजन है। इस प्रयोजनकी सिद्धि उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् इस तत्त्व ज्ञानमे सिद्ध हो जाता है। किसी भी पर पदार्थसे कुछ लेना देना ही नहीं सो परके विशेष ज्ञानसे कुछ प्रयोजन नहीं, अतः विशेष ज्ञान बिना कुछ बिगाड भी नहीं है।

२० अप्रैल १९५७

आत्मन्! तुम प्रभु हो। अपनी प्रभुता सम्हालो। सत्य पथमें पैर बढावो असत्य पथसे पीठ फेरो। तुममे वह बल है कि अन्तर्मुहूर्तको भी निर्विकल्प समाधि बन जावे तो करोडो भवके कमाये हुए और असंख्याते वर्षकी स्थिति रखे हुए कर्मोका झडना हो जाता है। विनाश हो जाता है।

तुम्हारा आनन्द तुम हीमे है अन्यका ध्यान छोड दो। तुम्हारे तुम ही प्रभु हो, दीनता छोड दो।

तुम अनन्त बल शाली हो उस अनन्त की महिमामें समा जावो।

तुम अनन्त आनन्दमय हो उस आत्मीय आनन्दकी महिमामें समा जाओ।

तुम सुगमता, सरलता, सहजभावसे सुखी हो जाने वाले हो। कष्ट, कपट कृतियोका प्रकरण छोढ दो।

तुम सत् हो, सत्य हो, सत्व हो, सनातन हो, शान्त हो, शुद्ध हो, सुधाम हो, सदोदित हो, शाश्वत हो, सदाशिव हो।

हे निजनाथ तेरी दृष्टिमे तो प्रकाश है और तेरी परांमुखतामें अन्धकार है।

प्रकाशमे रहते हुए दुःख भी आये तो भी विडम्बना नहीं होगी। अन्धकार मे रहते हुए सुख भी हो जायें तो वह बड़ी विडम्बना है।

प्रकाश सदा रहो फिर जो हो सो होओ। आत्म स्वभावकी दृष्टि हट जाना विपदा है अन्य विपदायें विपदा नहीं।

२१ अप्रैल १९५७

हे आत्मन्! तुम ज्ञानमय ही तो हो, बस अब सर्वत्र ज्ञानका विलास होने दो।

ज्ञानका साम्राज्य सत्य साम्राज्य है अन्य तो सब आतङ्क ही है।

कोई जानता होगा कि रागका साधन मिल गया तो बडी कमाई पा ली। उस इन्द्रजालके उपयोगसे अपनी कितनी बरबादी कर ली इस ओर चित्त नहीं डालता।

सुख एकाकीपनमे है। है भी तू प्यारे एक। भ्रमबुद्धिमें ही यह मनुष्य पर्यायका भी समय यो ही गुजार दोगे तो मेरे शरण! बतावो कब नैया पार होगी।

मनको मार, वचन मत बोल, कायसे तो तुझे करना ही क्या है। एक बार तो ऐसा सांचा ढाल। फिर मनसे जो बन पड़ेगा, वचनसे जो बोला जायगा, कायकी जो चेष्टा हो बैठेगी उनसे तुम्हे बाधा न आवेगी।

अब तो पूरी पूरी ठान ले, स्वमें ही रत होना है। कर्मोंको हमने बाधा था, कुछ ज्ञान होने पर भी बाधा था इस धैर्यके साथ कि बंध जाओ किसी भी समय थोडी ही वेलामें तुमसे अच्छी तरहसे निपट लेगे। अब उस धैर्य का काम कर डालो।

मेरे आत्मन्! तुमने दर्शन दिया अब दर्शनके लाभसे मुझे वञ्चित न होने देना इसके एवजमें यदि किसीको उपसर्ग करके बाधामे देकरके मन भरना है तो खूब भर लेवे। बन्दा इसके लिये सविनय तैयार है।

२२ अप्रैल १९५७

सम्यक्त्वकी महिमा अनुपम है। निर्मल ज्ञान रहनेसे बढ़कर भी क्या

कहीं कुछ वैभव है।

किसीको ओर मत देख, किसीकी आधीनताका प्यार न गत, किसीमें स्नेह मत रख। जानता तो जा जा जानने आता जावे, किन्तु उनमें उपयुक्त, आसक्त न होजा।

मिलेगा क्या अन्य वस्तुसे सो तो बताओ। जैसे शरीरका शरीरसे परिचय हो तो शरीरका लाभ तो दूर रहा शरीरको ही कुछ क्षति होगी। वैसे आत्मा किसी भी अन्य पदार्थसे परिचय हो तो आत्माको लाभ होना तो दूर रहा आत्माकी कुछ हानि ही हो जावेगी।

पुराण पुरुषोंके चरित्र देखो परिचय बढ़ाया कुछ भी हुआ आखिर परिचय छोड़कर अपनेमें अपने एकाकित्वका अनुभव करके ही सुखी हुए थे ना। तो क्या तुम कुछ संग्रह मचाकर सुखी होना चाहते हो। पुराण पुरुषों से भी बड़े चतुर बननेका प्रयत्न करना चाहते हो।

करना, कर्तव्य करना इसलिये कर्तव्य बताया है कि अकर्तव्य न बन बैठे।

अकर्तव्यके परिहारके लिये कर्तव्य है। तभी तो कर्तव्य निष्काम कर्म योग हो जाता है।

२२ अप्रैल १९५७

संसारका बन्धन राग द्वेष मोह भाव हो है। रागका बन्धन स्वभावमें नहीं इसी कारण राग छूट जाता है। राग नैमित्तिक है इसी कारण राग छूट जाता है।

विद्वानका सबसे जल्दी क्या काम कर लेना चाहिए संसारकी सन्तति का छेद।

शरीर मिलते रहना ही विपदा है। वह क्षण कब आये जब शरीरका बन्धन छूट जावे। शरीरका सत्कार न करो, शरीरके लिये बुद्धि मत लगावो। शरीरका व्यामोह छोड़ दो। शरीर शरीर (शरारती) है, शरीरके लिये अधीर मत होओ।

शरीरके स्नेहसे शरीर ही रहोगे शरीफ नहीं हो सकोगे।

काल बड़ा विचित्र है। योगी होने पर बताओ वह कहां रहे। जंगलमें

तो वहा आरम्भके दोष किये बिना निभाव कठिन है अथवा हिंसासे बचाव कठिन है यदि अन्य कोई यत्न किया जीवनके लिये ।

योगीका शहरमें रहना उसके उत्कर्षका कारण नहीं ।

अब क्या करे योगी ? बस एक बात है अध्यात्मदृष्टि को अधिकसे अधिक बनाये फिर जो हो पडे सो होने दे । हा अब क्या क्या सोचा जाय । इसीमे समय गमा दिया इसमे तो कुछ सिद्धि है नहीं ।

२४ अप्रैल १६५७

श्रीयुत प्रोफेसर लक्ष्मी चन्द जी जैन M Sc एक सज्जन पुरुष हैं । इनमे मान तो छू भी नहीं गया, वैसे तो मान होगा अन्य था ससारमें क्यो रह रहे । हा लोकमे असंगत हो ऐसा मान नहीं । सहृदय, सरल पुरुष हैं ये । आत्मदृष्टिमे देखा जावे तो इन जैसा सर्वहितचिन्तक गृहस्थ जबलपुरमें जैन समाजमे तो अन्य कोई नहीं दिखा ।

सज्जन पुरुष एक दम नहीं मिल जाते, ढूढनेसे अथवा सयोगवश अचानक मिलते हैं ।

अपनी दया करो, पर पर हो है उसमें आसक्त मत होओ । तेरी परिणति तेरेमे तेरेमे तेरे ही लिये होती है । यह ला सर्वकालके लिये है । ला वनाई हुई व्यवस्थाका ला बिगडता है स्वभावका लो नही बिगड़ता ।

सम सम्, स, स्वकीय, स्वक, स्व ।

ॐ शुद्धोऽहं बुद्धोऽह, नित्योऽह, निरञ्जनोऽहं, ज्ञानानन्द, स्वरूपोऽह ।

मन वशकर, तन कृशकर, वचन हितमय कह । धन रुचि मत रख, ज्ञान धन भज ।

जिस कायसे दुनियाको इतनी प्रीति है वह काम ही दुखका हेतु है ।

जिस कायकी राख अभी हो जाना है अथवा पशु पक्षी जिसे चौट कर अभी खा जावेगे, उस कायकी ओर ही बुद्धि रहती इससे बढकर पछताने की विषय और क्या होगा ।

अपनी ओर बस । अपना काम कर । अपनेमे रम । अपने लिये सोच ।

२५ अप्रैल १६५७

संसारमे सार कुछ अन्य नही है । आत्म स्वभाव ही सार है । आत्म

स्वभावकी दृष्टि ही हमारी माता है।

हे नाथ! एक क्षण, एक सेकिण्ड, एक बार भी निर्विकल्प अनुभव हो जावे फिर यह परम्परा सब सम्हाल कर देगी।

कोई मेरा साथी नहीं है। एक भी अन्य पदार्थ मेरे विकल्पमें, उपयोग में मत आओ। बाह्य कौन मेरा क्या कर देगा। हम ही को तो अकेले इस संसारमें रहना है और हमको, इसको ही अकेले मोक्षमें रहना होगा। हम अनादि अनन्त एकाकी हैं।

हे आत्मन् किसी भी वस्तुमें राग मत करो। वह वस्तु, जिससे राग किया जाना है, रच भी तेरे परिणामका, सुख दु:खका साथी नही है। राग परिणामसे आत्माका बल कम हो जाता है। राग परिणाम वर्तमानमें भी आकुलताका बढाने वाला है और आगामी कालमें भी आकुलताके होनेका कारण बनता है।

हे प्यारे! राग ही महादु ख है, अन्यको दु.ख मत जानो। दु:ख नहीं करना है तो राग न करो।

राग न करो, राग न करो, राग न करो।

प्रियतम! चैतन्य स्वभाव! अनादिसे बिछुड प्यारे! तुम आज मिले। अब मुझ उपयोगसे बिछुडे मत जाना।

तेरे रहने पर उपयोग हरा भरा है, तेरे पराँमुख होने पर उपयोग शून्य, दरिद्र और गरीब हो जाता है।

२६ अप्रैल १९५७

आज नाइओंकी सभा थी नाई भाइयोका आग्रह था। उसमे हम लोग गये। यह सभा उन्होने भक्त सैनकी जयन्तीके उपलक्ष्यमें की थी। भक्त सैनकी विशेषता भक्ति है। भक्ति चारित्र निष्ठ कर सकता है। जगमे आनन्द इन दोनोका अद्भुत है। आनन्दकी प्राप्तिके लिये चारित्र और भक्तिको अपनावो जिसका चरित्र सुरक्षित है उसका आनन्द, सतोष सब सुरक्षित है। जिसका चारित्र नष्ट हो गया उसका सब नष्ट हो गया।

चारित्रमे प्रधान है ब्रह्मचर्य और सरलता इमकी पुष्टिके लिये हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह इन पाचो पापोका त्याग बताया है। पाचों पापोके

त्यागका प्रयोजन ब्रह्मचर्य है और सरलता की पूर्ति है।

जीवन अनित्य है। मनुष्य जन्म एक अनुपम अवसर है। इससे लाभ जरुरी निकाल लो अन्यथा केवल पछतावा रह जायेगा।

जो क्षण गुजर जाते हैं वे फिर वापिस नहीं आते हैं। जो साधन निकल जाता है उसकी सभावना तो है कि फिर भी हो जावे किन्तु निश्चय नहीं है।

शीघ्र कल्याण कर लिया जावे इसकी उपयोगिता इस ही में है।

किसीका दिल न दुखाना, चुगली निन्दा न करना, झूठी गवाही न देना, झूठे लेख न लिखना, किसीकी चीज चोरीसे, कलासे, डकैतीसे किसी भी प्रकार न हडपना, कुशील सेवन न करना, परिग्रहकी तृष्णा न रखना यह चरित्र है। चरित्रकी रक्षा करो भक्तिका प्रवाह बढ़गा।

ऐसी भक्तिमें जो आनन्द है वह लोक मे अन्यत्र नही।

२७ अप्रैल १९५८

संरण परिभ्रमण को कहते हैं। आत्मा आत्मा मे ही परिभ्रमण करता और आत्मा में ही मुक्त हो जाता है। आत्माकी मलिन परिणतियोका पुनः पुन' भवन होना ही तो परिभ्रमण है। आत्मा स्वयकी शक्तिसे परिभ्रमण है, यह ससार रचना, यह सृष्टि किया करता है? आत्मा स्वयंकी शक्तिसे स्वभाव दृष्टि, अचलता, निर्मल सृष्टि और मुक्ति बनाता है।

जिसने सज्ञी बनकर भी स्वरुप न पिछाना उसने दिल्ली जाकर भाड ही तो भोंका।

जिसने स्वस्वरुपावबोध पाकर निज चरित्रकी रक्षा नही की, उसने चन्दन वृक्ष बर्तन माजनेको राख चाहने के अर्थ जला ही तो डाले।

जिसने चरित्र का भी आश्रय लेकर उसका निभाव नहीं किया उसने हीरा पाषाणको पाकर उसे पेर धोने में ही तो लगा दिया।

परिणामका नायक चाहिये फिर परिणामको जैसा चाहे बनालो। ज्ञान भावनासे परिणाम धर्मकी ओर उन्मुख हो जाते हैं। परवासनासे परिणाम विषय कषायकी ओर उन्मुख हो जाते हैं।

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।

तावत्‌ यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितम्। ॐ नमः शिवाय, ॐ

नम सिद्धाय, ॐ नमः मुक्ताय। ॐ नम स्वभावाय, ॐ नम' शक्तिमयाय, ॐ नम. सहजाय। ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ। ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ। ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ। ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ। ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ। ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ ॥

२८ अप्रैल १९५७

आज पूरन चन्द मुलायम चन्द का मानेश्वरी जबलपुरने जीवस्थानचर्चाके द्वितीय संस्करण छुपा जानके भावमे शास्त्र माला का एक हजार ८० प्रदान करना कहे। यहाँ के पुरुष वर्ग और विशेष कर महिला वर्गने जीवस्थानचर्चा से अधिक लाभ लिया है और इसी कारण एक महिला ने द्वितीय संस्करण छुपवाना चाहा।

आत्मन्! क्या जड पदार्थकी राह तकता है? तू तो सर्व अन्य आत्मा और सर्व पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल से अत्यन्त पृथक है।

हे राम! तुम्हारा रमनेका स्वभाव है। रमो किन्तु पवित्र निजतत्वमें ही रमो। बहुत खेल हो चुका, बहुत होनी हो चुकी, बहुत विडम्बना हो चुकी। अब आखिरी परिणाम शुद्ध तत्वमे रमना ही हो। बडे पुरुषोंकी यही रीति है जितना वह किसीका मजाक करे उतना ही वह उसे आराम देता है। और, अन्तमें तो आराम देता ही है।

ॐ सत्यम् शिवं सुन्दरम्।

ॐ नम शिवाय। ॐ नम शुद्धाय। ॐ नम' परमतत्वाय। जिन ॐ नम.।

२९ अप्रैल १९५७

आत्मामें एक समय एक पर्याय रहता है, पूर्व पर्याय तो हैं नहीं अतः वे अच्छी गुजरी या बुरी गुजरी इनका विकल्प कर वर्तमान पर्यायको विकल्पक मत बना।

आत्मा में एक समय एक पर्याय रहती है, भविष्यत् पर्यायें तो हैं नहीं अत' भविष्यकी पर्यायोकी इच्छा कर वर्तमान पर्यायको विकल्प मत बना।

आत्मामें एक समय एक पर्याय रहती है वह पर्याय ऐसी हो कि आत्मा में निरन्तर ...ओंका ...मान हो जाय। यही एक खास समस्या है। जिन्होंने

इसका हल किकाल लिया वे कृतकृत्य हे ।

भ्रमजाल कितना है ? कहा है ? विचार करने पर हसी ही आती है ।

मोक्ष मार्ग कितना है ? कहा हैं ? विचार करने पर गुजरे समय पर आश्चर्य अफसोस ही होता है ।

आत्मन् ! तुम अपने ध्येय के पक्के बने रहो मौन रहो, मौन रहो, मौन रहो बोलो तो केवल प्रवचन के समय या किसीसे पढने के समय या पूजा भक्ति बोलते समय । या चर्चा समाधान के समय या पढानेके समय इसके अतिरिक्त बोलना है तो केवल एक निश्चित समय । वह टाइम है जैसे आजकल के लिये—सुबह प्रवचन के उपरान्त ।

आत्मन् ! तेरे लिये तू ही प्रिय है, हित है । यह पूर्ण सत्य है । अनाकुलता के लिये बहुत से उपाय खोजा करते हैं खोजी । मुझे तो यह पूर्ण जच गया कि मै हीं अपने ज्ञानके अनुकूल सुख और दुःख पाता हू । आनन्द भी इसीसे ही पाता हू, पाऊगा ।

३० अप्रैल १६५७

अब चित्त नही चाहता कि कुछ बोलू ! चित्त यह भी नहीं चाहता कि कुछ लिखू । चित्त यह भी नही चाहता कि कुछ भी चेष्टा करु ।

देखा तो विवशता ? ठाला भी रहा जाता नही । देखा तो पराधीनता । इसे कुछ न कुछ करना ही पडा है ।

ये सब आपत्तिया समाप्त हो जावेगी । धैर्य रखो । निज चैतन्य स्वभावकी दृष्टिकी एसी अपूर्व महिमा है कि इसके प्रसाद से निर्विकार, निश्चल आत्म स्थिति प्रकट होगी ही ।

जितना एकान्त पाओगे उतना भला होगा । अन्त एकान्त पाओगे सर्व विपदाये शान्त होगी ।

ॐ नमः परमात्मने ।

१ मई १६५७

जगतकी जागत है सोनेको जग कहता है, जगतको सोता कहता ।

जगतमें करनेको कुछ नही पडा है केवल विकल्पका नाट्य हो रहा है ।

प्यारे ! तुझे यहा कौन जानता ? कषायवश बंध गये कर्मोंके उदय

वश संचित वर्गणावोके इस ढेरको ही तो लोग देखते हैं। न ऐसा वह रहेगा और न ऐसा यह रहेगा और न बीचकी बात भी रहेगी। कामकी इच्छा सब मूर्खताओमें पहिले नम्बर पर लिखी जाने योग्य मूर्खता है।

यहा यह सब इन्द्रजाल है। यह कुछ भी नहीं रहनेका है। इससे परा मुख होओ अपने उन्मुख होओ।

कुछ करो, याने कुछ भी न करो।

मेरा स्वभाव सर्वज्ञताका है, वर्तमानमें मैं कितना ज्ञान रखता हू? वह कुछ भी नही है। छद्मस्थ अवस्थामें भी बडे बड़े ज्ञानी हुआ करते हैं। सचमुच मेरा यह ज्ञान अत्यल्प विकसित है, किन्तु नाथ सन्तोष मुझे इसलिये है कि प्रयोजनभूत निजतत्व को स्वतन्त्रताका बोध जो हुआ है वह असदिग्ध नि शङ्कित है। इसके बारेमे कभी भी मुझे सन्देह नहीं होता।

हे जिनेन्द्र! तेरा उपकार वर्णनातीत है।

२ मई १९५७

आज मढिया क्षेत्रो पर पार्श्वनाथ जी और महावीर जीकी मढिया बनने का मुहुर्त था मुहुर्त सानन्द सम्पन्न हुआ। पार्श्वनाथ जीकी मढ़िया श्री कोमल चन्द जी जैन पुरानी बाजा जी वालाने बनवाई और महावीर जीकी मडिया श्री खूब चन्द जी जैन जवाहर गज वालोंने बनवाई।

हे अरहन्त देव तेरी विशुद्धताका ध्यान रहे जिससे मैं अपने विशुद्ध स्वभावका ख्याल करता रहू।

हे प्रभु तेरी भक्ति यावत् स्वरसन न बनूं तावत् बनी रहे।

हे जिनेन्द्र! तुम जिनके इन्द्र हो तो कोई जिन होता होगा। क्या तुम हमारे नाथ नही हो? हो, लो लो, तुम्हारे नाम बननेमें एक मैं भी कारण बन गया।

हे देव! तेरा स्वरूप तेरेमें नहीं मिलता, मेरेमें मिलता। तेरा स्वरुप है तो तेरेमें किन्तु मिलता मेरेमें। नाथ! मैं असत्य नहीं कह रहा हू। इस इसी सत्यता पर भक्त और भगवान की रिश्तेदारी है।

हे प्रभु! तुम प्रकर्ष रूपसे हो गये हो। इसलिये प्रभु हो।

हे ईश्वर! तुम स्वयं स्वयंको स्वयंमे स्वयं को साधते हो इसलिये

ईश्वर हो।

हे शिव! तुम स्वयं आनन्द मङ्गलमय हो और जो तुम्हारा ध्यान करता है वह भी आनन्द-मगलमय हो जाता है इसलिए तुम शिव हो।

हे राम! तुम अपनेमे रमण करते रहते हो इसलिये राम हो।

हे बिहारी! तुम अपनेमें निर्भय विहार करते हो इसलिये बिहारी हो।

३ मई १९५७

सर्व परिग्रह से अत्यन्त विरक्त होकर कुछ क्षण निजके स्वभावका अनुभव तो करो, जन्म सफल हो जायेगा। आत्मा वैभव युक्त हो जावेगा।

यह आत्मा स्वयं कारण परमात्मा है। कारण परमात्मा ही तो तीन रूप में लीला करता है (१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा।

परमात्मा शब्द ही अन्य दो रूपोंका याने बहिरात्मा और अन्तरात्मा को सिद्ध करता है। परमात्मा वह है जो आत्मा परम है, उत्कृष्ट है। उत्कृष्ट है तब कोई अनुत्कृष्ट भी है या वही अनुत्कृष्ठ था पहिले। अनुत्कृष्ट २ प्रकारसे है (१) अधिक अनुत्कृष्ट (२) कम अनुत्कृष्ट। अधिक अनुत्कृष्ट बहिरात्मा है और कम अनुत्कृष्ट अन्तरात्मा है। उत्कृष्ट आत्मा परमात्मा है।

परा उत्कृष्ट मा लक्ष्मीः ज्ञान लक्ष्मीः विद्यते यत्र सः परमः, परमाश्चासौ आत्मा चेति परमात्मा।

अन्तरात्मा— अन्तेः ज्ञायते आत्मा येन स अन्तरात्मा शुद्धात्मावि-दित्यर्थी।

बहिरात्मा— बहिः ज्ञायते आत्मा येन स बहिरात्मा पर्यायात्माबुद्धि-रित्यर्थः।

४ मई १९५७

अमित, अखण्ड, अतुल, अविनाशी। अच्युत, अकल, अमल, अवभासी॥
अचल अहेतु अछल अविकारी। अमर अनन्त अखिल अवतारी॥

हे प्रभु! हे आनन्दघन! तुम ही अनुपम तत्व ही तुम हो ब्रह्म हो। अहं ब्रह्मास्मि, तत्वमसि।

हे देव, देवाधिदेव, निजरस निर्भर! सच्चिदानन्द। ज्ञानघन। जय

वन्त प्रवर्तो ।

हे परम तत्व ! तुम्हारी दृष्टिके प्रसादसे पर्याय भी स्वतन्त्र हो जाती है।

हे निश्चल तत्व तुम्हारी दृष्टिके प्रसादसे पर्याय भी निश्चल हो जाती है।

हे स्वतन्त्र तत्व ! तुम्हारी दृष्टिके प्रसादसे पर्याय भी स्वत सिद्ध हो जाती है।

हे निर्विकल्प तत्व ! तुम्हारी दृष्टिके प्रसादसे पर्याय भी निर्विकल्प हो जाती है।

जगतमे कुछ भी सहाय नही है। मात्र निजस्वभावकी दृष्टि ही निजका शरण है।

हे शरण ! तुम्हारी दृष्टिके प्रसादसे सर्व विकल्पोका अभाव हो जाय मौलिक और आन्तरिक इच्छा है।

५ मई १९५७

इच्छा मात्र ही सर्व दु खकी जननी है। इच्छाका अभाव ही आनन्द है।

आत्मामे भूख तो आती है परन्तु आत्मा खाता नहीं है। भूखका संस्कृत शब्द है बुभुक्षा। बुभुक्षा अर्थात् भोक्तुमिच्छा इति बुभुक्षा खानेका इच्छाको बुभुक्षा कहते हैं। सो इच्छा आत्माका परिणमन है। इसे यह सिद्ध हुआ कि बुभुक्षा आत्मामे हुई। किन्तु खाना कहते हैं भोज्य पदार्थ और मुख पेटके सम्बन्ध होनेको। इसमे आत्माके गुणोका कोई परिणमन नहीं है। हा इस कालमे जो भोजनके प्रसङ्गमे तृप्ति अतृप्ति आदि परिणमन होते हैं वे आत्माके परिणमन हैं।

इस प्रकार देखो भूख आत्मामे हुई, खाना आत्माने नही किया। फिर सोचो भूख कैसे मिटती। भूख खानेकी इच्छाको कहते हैं। खानेकी इच्छा मिटनेसे भूख मिटती।

कोई भोजनके सम्बन्धसे इच्छा मिटाते हैं। कोई भोजन सम्बन्धके बिना ज्ञान भावके द्वारा इच्छा मिटाते हैं।

जब समस्त इच्छायें शान्त हो जाती हैं तब शरीरका पोषण बिना खाये

भी उत्तम होता है। कितने केवली ८ वर्ष कम एक कोटि पूर्व तक संसार में रहते हैं। उनका शरीर तो कर्म वर्गणाओके अनायास ग्रहणके कारण पुष्ट रहता है।

६ मई १९५७

आत्माका कल्याण सचाईमे है। सचाईके विरुद्ध चलनेमे आत्माका उत्थान नही। आत्माको बनाना है स्वभावके अनुकूल यथार्थ। तब यदि कोई जान बूझकर उल्टा चलता है याने स्वभावके विपरीत असत्यतामें प्रवर्तित होता है तब वह कैसे उत्थानमे आगे बढ जावेगा। इस पर विचार तो करो।

उत्थान ज्ञाता द्रष्टा रहना है। पतन राग द्वेषसे कलुषित हो जाना है।

मानव भवका क्षण बहुत अमूल्य है। यह अमूल्य है इसलिये कि इसमें मन इतना श्रेष्ठ है कि आत्म स्वभावका ज्ञान कराकर आत्म स्वभावमें प्रतिष्ठित हो जानेके लिये बडी प्रेरणा देता है।

वस्तुत. आत्माका काम आत्मामे आत्मासे होता है। किन्तु जब अनादि कालसे कर्मका, शरीरका, इन्द्रियका, बन्धन हो रहा है तब इस भवके मनका उक्त काम एक बड़ा विशेष अनुपम है।

हे आत्मन्! खूब तो घूमे विकल्पोमे। अब तो विकल्पोंको शान्त करो। क्या निर्विकल्प परम अमृत रसका स्वाद नही लेना चाहते?

हे आत्मन्! विकल्प छोड़नेमे तुम्हारा कुछ जाता नही है। श्रम भी इसमे कुछ नही पडता। आनन्द ही आनन्द इसमे भरा है। विकल्पोको छोड़ परसे मुख मोड।

७ मई १९५७

खुद ही खुदका उद्धारक है।

हे आनन्द घन! तेरे मे आनन्दकी कोई कमी है ही नहीं, फिर आनन्द के लिये झुकता क्यो है? यही तेरी बड़ी भूल है, यही तेरी पराधीनता है। यही सर्वहानि है।

आवो नाथ! अब मेरे उपयोगमें सदा विराजे रहो। तेरे दर्शन बिना यह मै दीन होकर अब तक भ्रमा हू। स्वभावके दर्शन पाने पर सर्व दीनता दूर हो जाती है।

ॐ नमः शिवाय शिवमयाय । ॐ नमः शिवराम शिव मूलाय ।

हे चैतन्य स्वभाव ! तेरी दृष्टि सुख उत्पन्न करती है अतः तू ही शंकर है ।

हे चैतन्य स्वभाव ! तेरी दृष्टिके प्रसाद से चेतना विश्वाकार रूप निज का अनुभव करता है अतः तू ही विष्णु है ।,

हे चैतन्य स्वभाव ! तेरी दृष्टिके प्रसादसे रागादि दोष सब जीत लिये जाते हैं अत' तू ही जिन है ।

हे चैतन्य स्वभाव ! तेरा स्वभाव परम ज्ञान है अतः तू ही बुद्ध है ।

हे चैतन्य स्वभाव ! तुम स्वयं स्वयंकी सृष्टिके उपादान कारण हो अतः तू ही ब्रह्मा है ।

हे चैतन्य स्वभाव ! तेरी दृष्टिके प्रसादसे समस्त पाप हरे जाते हैं याने नष्ट हो जाते हैं अतः तू ही हरि है ।

हे चैतन्य स्वभाव ! तू ही सुख, दुःख, राग, द्वेष, अज्ञान, सुज्ञान आदि सृष्टियोमें स्वतन्त्र समर्थ है अतः तू ही ईश्वर है ।

८ मई १९५७

हे निज आमत्न् ! समय गुजर रहा है बता तुझे अब क्या करना है । लोकमें आडम्बर हो जाए इससे कुछ सिद्धि नहीं । लोक तुझे बडा जाने इससे कुछ सिद्धि नहीं । लोकमें प्रसिद्धि हो इससे कुछ सिद्धि नहीं । तू तो अकेला है । केवल निजके प्रदेश गुण पर्याय रूप हो । यहा तुझे पहचानता ही कौन है और पहिचान भी सकता कौन है एवं विकल्पोको छोड़ निर्विकल्प स्थितिके आनन्दसे तृप्त हो जाओ ।

तेरा यहा जगतमे कुछ नहीं है । किसी भी पुरुष पर यह विश्वास न कर कि यह मित्र है। अन्य वह यदि स्वार्थी है तो जब तक तेर निमित्तसे उसके अभिमत स्वार्थकी सिद्धि होती रहेगी तब तक वह तो मित्र है, स्वार्थ सिद्धि न होने पर निःसकोच वह तेर से विरुद्ध हो जावेगा । अन्य वह यदि कल्याणार्थी है तो जब तक तेरा चरित्र निर्मल रहेगा और तेरे ज्ञान, उपदेश आदिके निमित्तसे उसके सत्पथकी सिद्धि होती रहेगी तब तक वह तेरा अनुरागी है उसके इष्ट प्रयोजन की सिद्धि न होने पर या तेरे चारित्रमें हानि होने पर

नि सकोच वह तेरेसे विरुद्ध या उपेक्षित हो जावेगा ।

तू अपनेको देख, अपनेको स्भाल, अपनेमें बस । इस विधीसे तेरा कल्याण अवश्य होगा ।

कहना सरल है किन्तु ऐसा जीवन बनाना कठिन है इस उक्तिके विरुद्ध चल याने अपने जीवनको सत्य पुरुषार्थसे सफल कर ।

९ मई १९५७

जीवनको आनन्दमय बनानेके मुख्य उपाय ।

(१) ब्रह्मचर्यको अबाधित बनाओ ।

(२) अपने चैतन्य स्वभावकी ओर अधिकसे अधिक उन्मुख होओ ।

३) पर पदार्थसें सदा उपेक्षित रहो ।

जीवन क्या है ? जीवन One, yes, I am only one इस प्रतीतिमे बन जाता है जीवन ।

सत्य वह है जो सत्‌मे हो, सत्‌मे वह है जो तबसे हो जबमे यह सत् है । सत्य है चैतन्य स्वभाव । इसमे तू रत हो, इसमें तू तृप्त हो, इसमें तू स्तुष्ट हो ।

आत्मन् ! कहासे आये ? पता नहीं । आत्मन् ! कहा जाओगे ? पता नही । आत्मन् कहा पर हो ? यह भी पता ना हो तो लुटिया डूब गई । वर्तमान का तो पता कर लो । इसका पता तो अति सरल है । जो गुजर रहा है तुम पर उसका भी पता न पाडोगे फिर कैसे मुक्तिका मार्ग तुम्हे मिलगा ।

तुम हो अभी राग द्वेष विकल्पोमें । इनसें पृथक् चैतन्य मात्रको देखो तो तुम हो तब निज निर्विकल्प स्वभावमे ।

कहा रहना है ? कहा तुम शान्तिका अनुभव करोगे । इसका ठीक निर्णय कर लो यही तुम्हारे आनन्दकी जड बन जावेगी ।

१० मई १९५७

आत्मन् ! अपने गुणोकी दृष्टिसे अपनेमे परम सतोषको पाओ ।

प्रत्येक पदार्थ अपने अपने आपमे ही परिणमता है अन्यके प्रदेशमे नहीं अन्यके गुणोमे नहीं और अन्यकी परिणति से नहीं ।

तुम्हारा जीवत्व स्वयं अपने आप है । अमुक पदार्थ न मिलो तो तुम्हारा

जीवत्व न होगा ऐसा नहीं है। अमुक योन परिणमें तो तुम्हारा जीवत्व न होगा ऐसा नहीं है। जीवत्व भाव पारिणामिक भाव है, वह है ही। उसका कार्य परिणमन है वह होगा ही। पर संसर्गके परिणाम स्वरूप परिणमे तो विभाव परिणमन होगा। पर ससर्गके निमित्त बिना परिणमे तो स्वभाव परिणमन होगा। परिणमना धर्म है वह परिणमता रहेगा।

तेरे जीवत्व गुणको और उसके परिणमनको पराधीनता नहीं है।

हे आत्मन्! तू अपनी स्वतन्त्रतासे ही तो पराधीन बनता और अपनी स्वतन्त्रतासे ही स्वाधीन बनता।

तू ही क्या सर्व द्रव्य सर्वत्र सर्वदा स्वतन्त्र हैं।

नित्य, निरञ्जन, निरावरण, निस्तुष, नियत निष्कल, निर्द्वन्द्व, निरामय निर्भय, निर्बन्ध, निर्मल, निष्काम, नीराग, निर्वैर, निर्दोष, निर्विशेष चैतन्य महाप्रभो! जयवन्त होओ।

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ।

११ मई १९५७

आज चित्त उदास है यह उदासी किसी कल्याणमय तत्वकी प्रतीक्षा कर रही है। कल्याण कब हो यह तो तुम्हारी करतूत पर निर्भर है।

जब तक किसी जडकी ओर चित्त है शान्ति असम्भव है। शान्तिके अर्थ अनेक यत्न किये अब एक यह यत्न कर किसीको मत सोच, किसीसे मत बोल, कुछ भी चेष्टा न कर। सोचे बिना न रहा जावे तो पदार्थोंका स्वरूप सोच। बोले बिना न रहा जाय तो नियत समय पर धर्म तत्वसे सम्बन्धित ही कभी कभी बोल। कुछ चेष्टा किये बिना न रहा जाय तो स्वास्थ्यसे सम्बन्धित और ज्ञानोपायसे सम्बन्धित कुछ चेष्टा कर।

किसीको शत्रु मत समझ। किसीका बुरा मत विचार। किसीसे परिचय मत बढा। किसीको कुछ कर देनेका विश्वास मत दे।

सम्भव है उक्त समयोंमे आने पर कुछ लोग बुरा विचारें, तुम पर उपसर्ग करें। किन्तु सम्यक् श्रद्धाके बल पर उन सब अनर्थोंका पार कर परम विश्राम पा।

हे कल्याण मूर्ते! कल्याण भाग भव।

तेरा सत्पथ सरल और स्वाधीन है। एक अपने स्वभावकी ओर रह ! फिर क्या है, तुझे कोई विचलित नहीं कर सकता।

१२ मई १६५७

आजसे अहोरात्र कार्यक्रम प्रायः निम्न प्रकार रहेगा ता०

प्रातः	४	से	४।	आत्म कीर्तन
,,	४।	से	५।	सामायिक
,,	५।	से	५॥।	देव दर्शन, भक्ति, संस्तवन
,,	५॥।	से	६॥	पर्यटन, शौच निवृत्ति
,,	६॥	से	७	भजन या विद्वानोंका प्रवचन
,,	७	से	७॥।	प्रवचन
,,	७॥।	से	८	भजनादि
,,	८	से	६	अध्यात्म पाठ
,,	६	से	१०	चर्या
,,	१०	से	१०॥	विश्राम
,,	१०॥	से	११॥	अध्यात्म स्वाध्याय
,,	११॥	से	१२॥	सामायिक
,,	१२॥	से	१	पत्र लेखन
,,	१	से	२	इंगलिश लेखन
,,	२	से	२॥	संस्कृत लेखन
,,	२॥	से	३	विश्राम
,,	३	से	४	करणानुयोग स्वाध्याय
,,	४	से	४॥	पाठन
,,	४॥	से	५॥	शङ्का समाधान
,,	५॥	से	६॥	पर्यटन, सेवा
,,	६॥	से	७॥	सामायिक
,,	७॥	से	८	विश्राम
,,	८।	से	६॥	भजनादि
,,	६॥	से	४	शयन विश्राम ध्यान

१३ मई १९५७

आत्मा मे किसी भी पर का विकल्प होना एक उपद्रव है, इतना ही दुःख है, इतनी ही बाधा है, इतना ही ससार है।

जिस पर के सम्बन्धमे विचार किया जाता है उस पर तो विचारका कुछ असर होता नही किन्तु यह विचारक स्वयं उस असरमे बह जाता है।

परकी उन्मुखता महान संकट है। प्रभु निज नाथ इस सकटसे बचाओ इस सकटमे बचो।

लोकमें जो सामग्री दिखती हे उसको देखकर मलिन आत्मा उसकी ओर खिचता है यह उसकी एक बडी विपदा है।

भोजनकी डाह सतावे तो उपवास कर लो। काम की दाह सतावे तो ज्ञानार्जनमे लीनतासे जुट जाओ। नामकी चाह सतावे तो निर्नाम निज स्वभावका ध्यान करो।

भक्तिका प्रवाह आने दो।

मुक्तिकी राह जाने दो।

ज्ञानकी थाह पाने दो।

निज अवगाह पाने दो।

ससारके परिकरमें रहकर ससारसे उपेक्षित रहना बडे आत्मबलका काम है।

विषयोकी संपत्तिकी ओर प्रवृत्ति है तो इसी का नाम तो वह ससार है जिसमें रुलते अब तक चले आये हैं। यदि ऐसा ही आगे रहनेका प्रोग्राम है तो जो मर्जी आये करो।

ससार असार है, खूब दृष्टि पसार कर देख ले आनन्दको तुषार, ज्ञानको अभिसार यह ससार है।

१४ मई १९५७

आत्माका सर्वोच्च धन सत्य श्रद्धान और चारित्र है। यदि हजारो लाखो रुपयो की प्राप्ति हो और उस प्रसगमे चारित्रका श्रद्धान बिगड जाये तो सब खो दिया समझो। तथा यदि श्रद्धा चारित्रसे चलित नहीं हुए और धनको, नामकी गरीबी रही आई तो भी सर्व पाया हुआ समझो।

आत्माके संक्लेशका और शान्त होनेका सम्बन्ध उपयोगसे है बाह्य-वस्तुसे नहीं। तब जो व्यक्ति चारित्र नष्ट कर लेता है उसकी दृष्टिमे तो वह पाप ज्ञात बना रहता है ऐसी स्थितिमें वह उन्नति कैसे कर सकता है, बुजदिली कैसे छोड सकता है। जो व्यक्ति श्रद्धा या चारित्रसे चलित नहीं होता उसके अनेको संकट आवें फिर भी आत्मबल होनेसें अपनी दृष्टिमें निष्पाप होनेसे उसकी व्याकुलता कहासे हो सकती है, वह कायरता कहासें ला सकता है।

सर्व कुछ जाता है अन्य तो सब जाने दो किन्तु अपना चारित्र मत खोओ नियमसे विजय होगी।

तन छुटा फिर यहाका धन अथवा जिसें सुख सामग्री मानी थी वह तुम्हारे किस काम आयगा ? काम तो यहींके यहीं नही आता। खैर यह दूर की भी बात कह दी।

१५ मई १९५७

चारित्रबल सर्वोच्चबल है। जिसने आत्माको जाना और उस ही ओर उपयोग है वह धनके वियोगसे तो क्या शरीरके वियोगको भी कुछ हानिकर नहीं समझता।

सुदृष्टि ने जिसें जाना वह उसके पास ही है, इसमे रह रहे हो तो वहा क्या और अन्य शरीरमे जावे तो वहा क्या अथवा शरीरही कोई न रहे, न मिलेतो वहां क्या, सर्वत्र वह वैभववानके समीप ही है, फिर उसे भय किसका, शङ्का किसकी, प्रतीक्षा किसकी, आशा किसकी। वह तो अपने में अपने आप सदा प्रसन्न है।

निजका ज्ञान नहीं है तो जिसका ज्ञान है उसी ओर उसका उपयोग रहेगा। यही कारण है कि अनेकोंको क्या प्रायः सबको यह बोध होते हुए भी कि यह शरीर एक दिन लोगोके द्वारा जला दिया जायगा या अन्य प्रकार बरबाद हो ही जायगा, शरीरसें ममत्व नहीं हटा पाते।

शरीरसे ममत्व तो तब हटे जब इससे बढकर अन्य कुछ समझमें आवे। शरीरसें बढकर अन्य कुछ और क्या हो सकता है? वह हो सकता है जिसकी आत्मीयता अतिनिविड हो। वह है स्वय, स्वयं तो है किन्तु

परमशुद्ध निश्चयनयसे ज्ञात जैसा स्वयं है तैसा स्वयम्। इस स्वयके दृष्ट हो जाने पर मोह मूलसे मिटता है।

१६ मई १९५७

अनेकान्त वस्तुका विशेषण है। तब प्रश्न हो कि वस्तु कैसी है तब उत्तर आता है वस्तु अनेकान्त है।

अनेकान्त शब्द में ३ शब्द हैं—न एक अन्त। न एक इन दो शब्दो मे तो हो गया नम् समास जिससे बना अनेक, और, अनेक व अन्त इन दो शब्दोमे हो गया बहुव्रीहि समास।

इस अनेकान्त शब्दके अर्थ दो हें—[१] जिसमें एक नही किन्तु अनेक धर्म पाये जावें उसे अनेकान्त कहते हैं। [२] जिसमे एक भी धर्म दृष्ट न हो उसे अनेकान्त कहते हैं।

भेद दृष्टिसे वस्तुके जानने पर पहिले अर्थ वाली वस्तु ज्ञात होती है। और, अभेद दृष्टिसे वस्तुके जानने पर दूसरे अर्थ वाली वस्तु ज्ञात होती है।

जब नय २ हैं तो दो नयोसे ज्ञात वस्तुत्व २ प्रकारसे ज्ञात होता है।

मोह दूर करना ही एक मात्र ध्येय हो। इस ध्येयकी पूर्ति उस उपयाग के करनेमें है जिस उपयागके करनेसे मोह ठहर ही न सकता हो।

वह उपाय याने मोह दूर कर देने वाले उपयोगके बनानेका उपाय वस्तुकी स्वतन्त्रताकी दृष्टि हो। वस्तु स्वातन्त्र्यकी दृष्टि आजाय और मोह न गले यह नहीं हो सकता। सम्बन्धकी दृष्टि प्रतीति बनी रहे और मोह गल जावे यह नहीं हो सकता।

१७ मई १९५७

आज देहरादूनमे प्रवचन सभामे जो कुछ कहनेमे आया वह कुछ सच्चित और लाभकर प्रतीत होनेसे सन्क्षेप में लिख रहा हू।

प्रश्न—दु:ख कैसे मिटेगा ?

उत्तर—पहिले तो दु ख क्या है इसे जानो फिर पूछो दु ख कैसे मिटेगा। सर्व दु खोंके समस्त रूपकोको परख लो सर्वत्र यही मिलेगा कि अमुक मोह है, यही दु ख है। मोहको छोडकर अन्य कुछ दु.ख नहीं है अत यह पूछो कि मोह कैसे मिटेगा।

प्रश्न—मोह कैसे मिटेगा ?

उत्तर—जो अपना नहीं है उसे अपना मानना इसको मोह कहते हैं। इसका उपलक्षित अर्थ यह हुआ कि जैसा वस्तुका स्वरूप है उससे उल्टा मानना मोह है। यह मोह तो यथार्थ मानसे ही मिटेगा।

प्रश्न—वस्तुका यथार्थ स्वरूप क्या है?

उत्तर—इसका सुपरिचय पानेके लिये पहिले यह जानो कि सर्व पदार्थ कितने हैं।

प्रश्न—सर्व पदार्थ कितने हैं?

उत्तर—एक एक करके जितने हो उतने पदार्थ हैं।

प्रश्न—एक कितना होता है?

उत्तर—जिसका दूसरा अंश (टुकडा) न हो वह एक उतना होता है। जैसे एक मैं आत्मा, एक आप, एक ये, इस प्रकार अनंत आत्मा प्रत्येक एक एक हैं।

प्रश्न—दिखने वाली चौकी पुस्तक आदि तो एक एक होगे?

उत्तर—चौकी, पुस्तक, शरीर आदिके अंश हो जाते हे अतः ये एक नहीं है। इनमे एक एक परमाणु (जिसका दूसरा टुकडा न हो सके) वह एक एक द्रव्य है। इस तरह अनन्तानन्त परमाणु प्रत्येक एक एक द्रव्य है।

१८ मई १९५७

प्रश्न—ये ऐसे एक एक क्यों हैं?

उत्तर—प्रत्येक द्रव्य अपने ही द्रव्य क्षेत्र काल भावसे है परके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे न थे, न हैं, न होगे, अतः प्रत्येक एक एक अलग अलग हैं, स्वतन्त्र है। जैसे हम जैसा बोलते, चलते हैं इस चेष्टासे आपकी चेष्टा तो नहीं होती इससे सिद्ध है कि हम आप एक एक अलग अलग स्वतन्त्र हैं। इसी तरह सब पदार्थोंकी व्यवस्था है। इससे अपने आप पर यह घटाना-कि मै मै हू अन्य कुछ मै नही हूं। मै अपने क्षेत्र में, प्रदेश में हू अन्य द्रव्य के क्षेत्रमे, प्रदेशमे नही हू। मै अपने ही परिणमनसे परिणमता हू अन्य द्रव्य के परिणमनसे मै नही परिणमता। मैं अपने ही स्वभावमे, गुणोमें तन्मय हूं अन्य द्रव्य के गुणोमे नहीं हू। ऐसी ही व्यवस्था समस्त द्रव्योकी है।

१ धर्म द्रव्य, १ अधर्म द्रव्य, १ आकाश द्रव्य, असख्यात काल

द्रव्य है उनकी भी प्रत्येककी व्यवस्था ऐसी ही है।

वस्तुकी ऐसी स्वतन्त्रता प्रतीतिमें आ जाय फिर सम्बन्ध दृष्टि रह ही नहीं सकती। और जब सम्बन्ध दृष्टि न रही फिर मोह हो ही नहीं सकता।

जैसे—जिस रस्सीमे सापका भ्रम हो गया तो उस काल उसे भय और व्याकुलता हो गई। वही यदि हिम्मत करके उसे जाने कि कैसा है यह, तब समझमें आ जावे कि यह रस्सी ही है तो क्या फिर भी भय ठहर सकता है? नहीं। इसी तरह जब पदार्थका यथार्थ ज्ञान हो गया कि प्रत्येक वस्तु इस प्रकार बिलकुल स्वतन्त्र है तो क्या फिर भी मोह ठहर सकता है? कभी नहीं। इस सम्यग्ज्ञानमय उपयोगसे दुःख बिलकुल मिट जावेगा।

१६ मई १६५८

भोजन किया वह तो ६ घंटे बाद बुरी शक्ल पाकर निकल जायगा, आत्मामे क्या लाभ रह गया कुछ नहीं। प्रत्युत भोजनका विकल्प करके जो कषाय बनाई थी उतनी हानि हुई समझना।

भोजन न किये पर आत्माको अपने आपके गुणोकी दृष्टि मिले तो वहा अपनी क्या हानि हुई। प्रत्युत आत्मबल आत्मतत्त्व पानेका महान् लाभ हुआ।

भोजन मिलनेके लाभको लाभ न समझो।

अच्छे भोजनके लाभसे बडप्पन न समझो।

भोजन तो केवल संयमके साधनभूत इस शरीरके यथोचित बने रहनेको करना पडता है। भोजनसे मेरा कोई नाता नही।

भोजन न किये हुए जितना चल सके मेरा खुदका अपना काम, वह मेरे लिये उतनी ही उत्तम बात है।

आजके उपवासमे मुझे बहुत कुछ लाभ हुआ। यद्यपि आज कोई पर्वका दिन न था तथापि ऐसी इच्छा हो ही गई आज सुबह कि आज तो उपवास ही करना है।

उपवासका बाहरी अर्थ भोजनका न करना है सो मैं इस अर्थको र य याद देता हू। इस वातावरणमे मैने अपने निज भावको र ला है।

२० मई १९५७

आजसे १५ जुलाई तकके लिये निम्नलिखित अहोरात्र चर्या प्रायः होगी—

प्रात.	४ बजे से	४। बजे तक		आत्म कीर्तन
,,	४।	से ४॥	तक	आध्यात्मिक मनन
,,	४॥	से ५॥	तक	सामायिक
,,	५॥	से ६॥।	तक	देवदर्शन करके पर्यटनको जाना, शौचनिवृत्ति
,,	६॥।	से ७।	तक	भजन श्रवण, विद्वानोंके प्रवचन श्रवण
,,	७।	से ८	तक	प्रवचन
,,	८	से ८॥	तक	सामाजिक वार्तालाप
,,	८॥	से ९।	तक	करणानुयोग स्वाध्याय
,,	९।	से १०॥।	तक	शुद्धि, समावित आहार, वसतिका पहुंचना, विश्राम
,,	१०॥।	से ११॥	तक	आध्यात्मिक स्वाध्याय
,,	११॥	से १२॥	तक	सामायिक
,,	१२॥	से १	तक	पत्र लेखन
,,	१	से २	तक	संस्कृत लेखन
,,	२	से ३	तक	इङ्गलिश लेखन
,,	३	से ३॥।	तक	हिन्दी लेखन
,,	३॥।	से ४।	तक	पाठन
,,	४।	से ५	तक	शङ्का समाधान
,,	५	से ५॥	तक	चरित्र चारित्र स्वाध्याय
,,	५॥	से ६॥	तक	सेवा, पर्यटन, पत्रावलोकन
,,	६॥	से ७॥	तक	सामायिक
,,	७॥	से ८।	तक	आध्यात्मिक पाठ
,,	८।	से ८॥।	तक	भजन श्रवण, विद्वानोंके प्रवचनश्रवण
,,	८॥।	से ९॥	तक	प्रवचन

साय ६॥ से ६॥। तक वार्ता
,, ६॥। से ४ तक विश्राम, चिन्तवन, शयन

२१ मई १९५७

उपवासमे वह ताकत है कि आत्माके बहने हुए परिणामोको ठीक कर देता है। मानवका समय समय पर उपवास करते रहना कर्तव्य होना चाहिए। आहार लाभ न भौतिक लाभ है न आत्म लाभ है। परिणामोकी उज्ज्वलता आत्म लाभ है। परिणामोकी उज्ज्वलताके अर्थ जो भी कर सको कर डालो।

ब्रह्मचर्य महान् व्रत है। आत्माकी शक्तिका नाम वीर्य है और शरीर की शक्ति रूप मूल धातुका नाम भी वीर्य है। आत्मवीर्यको बढावो। देह वीर्यके नष्ट होने पर आत्मवीर्य भी चिग जाता है। अत: लौकिक और अलौकि ब्रह्मचर्यके संरक्षण, पालनमे, अपना सब कुछ न्योछावर कर दो।

जगत् असार है और है इन्द्रजाल जैसा। सब कुछ यह दृश्य पर्याय है। यह अपना नहीं, केवल अपनेकी अपने आपमे बनाई जा सकती है। वस्तुस्वरूपसे विपरीत वुद्धि विनाशके लिये है।

आत्माका वह अनेकान्त तत्त्व, अद्वैत तत्त्व जहा कि गुण पर्याय आदि का कोई भेद ही दृष्ट नहीं होता, अनुभवमे आने पर आत्मा कृतकृत्य हो जाता है।

आत्माका वह वैभव जो अन्त' सदा प्रकाशमान होकर भी मोहमें समझ मे नहीं आता है, विदिन होने पर आत्मा अपनेको सर्व सम्पन्न अनुभव करने लगता है।

"मान न मान मैं तेरा महिमान" यह जबर्दस्ती चल नहीं सकती। जगतके पदार्थ तुमसे अत्यन्त भिन्न हैं बिना तुम उनके महिमान बनना चाहते हो। अरे यह तो होगा नहीं कभी, हा, होगा, इस कुमतिका फलोपभोग।

२२ मई १९५७

निर्मल श्रद्धा और चारित्र बिना जीवन जीवनहीं क्या है?

यह जीव स्वय सुखी है. कृतकृत्य है परन्तु केवल विकल्पोंसे जमाने

भरका भार समझ रक्खा है। ऐसी भी अवस्थामे यदि भार भी है तो मात्र विकल्पका। मेरे पर केवल विकल्पका ही भार है अन्य किसी पदार्थका नही इस प्रतीतिके होने पर विकल्पका भी भार दूर किया जा सकता है। किन्तु जिस समझमें अन्य पदार्थका भार बस रहा है वहां कुछ भी भार हटाया नही जा सकता।

आत्मन्! तुम्हे अब क्या करना है! शीघ्र हितपन्थ सोचो। समय गुजर रहा है, फिर अवसर न मिलेगा प्राय. मिला भी अवसर तब भी करना तो यही है जो आज जाना है।

किसी भी अन्यकी परिणतिसे मेरा कुछ नही बनना है। मैं ही अपने दु:खमे दोषी हू। मेरे दु:खका दोष किसी अन्य पर आ ही नहीं सकता चाहे वह किसी भी प्रकारसे दु:ख हुआ हो।

दु:ख निजके आनन्द गुणकी परिणति है। जब दु:ख होता है तब वही आनन्दशक्ति तो इस आकुलताके रूपमे विकसित हुई समझो। इस कामको दूसरा कोई कैसे कर देगा।

इन सर्व क्लेशोको प्यारे तू ही स्वयं मेट सकता है। एक स्वभावदृष्टि कर और सहज आनन्दमय बन।

२३ मई १९५७

प्राकृतिक सुविधाका उपयोग करो।

देखना और बोलना ये दो कार्य कभी रागके प्रबल कारण बन जाते हैं। परन्तु आत्मन्! हैरान मत होओ। क्या तू समझ नही रहा है कि आखोको बन्द करनेके लिये दो दो पलक लगे हैं और बोलको बन्द करनेके लिये २ ओंठ लगे हैं।

देखो तो राम! अन्य इन्द्रियोंमे ऐसे ढक्कन नही मिलते हैं। कारण कि उन इन्द्रियोकी परेशानी एक तो अधिक नही है और यदि अधिक भी होती तो आख और मुख इन दोनोंकी करतूतकी सहायतासे वह होती है।

मुख बन्द कर, आख बन्द कर और सुमर निज आत्मदेवको।

परकी ओर उपयोग देना सो संसारकी वृद्धि करना है। और अपनी ओर उपयोग होना ही ससारका छेद होना है।

निजकी सर्व पर्यायोका स्रोत, सर्व परिणमनोका मूल निज चैतन्य ही ब्रह्मा है इस ब्रह्मदेवकी शरणमे पहुचो।

निजकी सर्व पर्यायोका धारक व पालक निज चैतन्य ही विष्णु है, इस विष्णुदेवकी शरणमे पहूचो।

निजकी पर्यायोंका सहारक, परिवर्तक निज चैतन्य ही शङ्कर है इस शङ्करदेवकी शरणमे पहुचो।

सर्वत्र यह निज चैतन्य स्वत सिद्ध है इस सिद्धदेवकी शरणमे पहुचो।

राग द्वेष मोह आदि अरियोका विनाशक यही निज चैतन्य है इस अरिहतदेवकी शरणमे पहुचो।

२४ मई १९५७

कहींसे कुछ नहीं मिलना है। मात्र विकल्पकी हैरानी ही है परके विषयके विकल्प करनेसे। सूत न कपास कोलीसे लट्ठमलट्ठा।

जब किसी भी परविषयक विकल्प न हो और न हो विकल्पात्मक रूपसे स्वका भी ज्ञान, वहा क्या मिलता है इसकी तो कोई उपमा ही नहीं है।

आत्मन्! सत्य व्यवहार करो यह व्यवहार आत्मबलका साधक है।

जब व्यवहारमे उपयोग मलिन बनाया तो उलझा हुआ यह उपयोग आत्मबलके लिये प्रयोजक कैसे हो सकता है?

आत्मबलके लिये, साम्यरस स्वादके लिये आत्माको अत्यन्त नि'शल्य होना चाहिये। मायापूर्ण व्यवहार करने वाला अभिप्राय एक बडी शल्य है। इस शल्यकी आकुलतामे शान्ति समताका आत्मबल प्रकट हो यह कभी सभव नहीं हो सकता।

जो लोग माया करते हैं वे किसी भौतिक लाभके लिये ही तो करते हैं। बता किस भौतिकसे तुझे लाभ होना है या कौनसा भौतिक तेरा साथी रहेगा।

विकल्प एक महान् शत्रु है। विकल्पका विनाश किसी प्रकार हो जावे वही उद्यमकरना बुद्धिमानी है।

२५ मई १९५८

शरीर मलका पिण्ड है। मोहियोको यह मलपिण्ड ही सुहावना लगता। इस शरीरके सब अवयवोमे भी मुख याने सूरत उन्हे अधिक सुहावना लगता सो अधिक प्रकारके मल भी इस मुखमे ही मिलेगे। कर्णमें कर्णमल, नेत्रमें नेत्रमल, नाकमें नाकमल, मुखमे थूकवलार और पसीना तो अल्प आयासमे आता रहता है। इसके अतिरिक्त हाड मास मज्जा रुधिर आदि मल जसे सर्वत्र हैं शरीरमे वैसे मुखमें भी हैं।

जिनकी बुद्धि आत्माकी ओर अभिमुख नहीं है, उन्हे कैसे शरीरसे उपेक्षा होगी।

जिसे जो अपना मानता है उसकी ओर वह झुकता ही है।

जिसने शरीरको, वर्तमान परिणमनको जाना माना, कैसे वह शरीरसे उपेक्षित हो सकता है?

जिसने निज ध्रुव आत्माको ही आत्मा माना है, कैसे वह आत्मप्रतीतिसें विचलित होकर परमें आसक्त हो सकता है।

आत्मन्! आत्माका आत्मा ही है और वही स्वयंका शरण है।

प्रभो! तुम कितनी ही पर्यायोंसे परिणमते रहो किन्तु दृष्टि पर्यायकी न बनाने दो फिर कुछ बुरा नही है, हो भी बुरा तो वह सब टल जावेगा।

२६ मई १९५७

रे मन! खुश रहो। रे आत्मन् प्रसन्न रहो। रे इन्द्रियो! आकुलित मत होओ। रे यश! जहा चाहे लीला करो।

उक्त सब काम एक विधिमे मिल जाते हैं। वह विधान है स्वभावदृष्टि जिसके प्रतापसे पाप रुक जाते हैं और उक्त सब काम होने लगते हैं।

परकी आशा छोडो, विषयसे मुख मोडो, जडसे ममता तोडो, भेद विज्ञान मोडो, स्वभावदृष्टि जोडो।

हे निज नाथ! जान तो गया मै। अब चाहे छुप छुप जावो, कहीं आवो, कुछ करो। परन्तु, जान गया मैं सब कुछ तेरा राज। अब तुम्हारे छिपनेकी चाल न चलेगी। छुपते रहो, कितने दिन अब छुपते हो व हो लो बुरे और हमें करलो बुरे कितने दिन और करते हो। आखिर, हमारा तुम्हारा

मामला रहेगा अन्तमे एक ही ।

हे कृपालु तुम्हारा विरद ही ऐसा है कि उत्थान करे, तभी तो तुम्हारा नाम ब्रह्म है । फिर क्या ब्रह्मत्वका ख्याल न करोगे ?

हे धर्मिन् ! तुम स्वय धर्ममय हो जो परिणति अपने इस स्रोतको देखल वह धन्य है ।

हे सहज ! तुम सहज हो फिर अनादिकालसे अब तक क्यो असहजसे बने चले आये । खैर जब दर्शन दिये तभी भला ।

२७ मई १९५७

सत्यतासे रहना आत्मबलका बीज है और आत्मबल सत्यताका बीज है ।

आत्मबली शाश्वत आनन्दका पात्र है । विषयोन्मुख कायर क्लेशके ही पात्र हैं ।

मनुष्य भवका सदुपयोग कर लो । नही तो, देखा ना, कितने प्रकारके ससारमे जीव हैं इन जेसे ही दु खमें समय गुजारना होगा ।

किसी भी पर वस्तुका ध्यान रखना, करना अपना ही नुकसान है । इस नुकसानमे रह कर अनादिकालसे तो दु ख भोगते आये और अब भी यही करोगे नो यही फल है । प्रकृतिका नियम तो सब पर एकसा रहेगा । कोई तुम अनोखे तो हो ही नही । जो जैसा करेगा तैसा भरेगा ।

अन्यायकी बातको हृदयमे थोडे समयको भी स्थान न दो । अन्यायका विचार अन्यायका कारण है । सच बात तो यह है कि परकी ओरका उपयोग परके एकत्वकी बुद्धि, परकी अभिलाषा बहुत भारी विपत्तिया हैं ।

इन विपत्तियोंसे बचना हो तो सदा अपने समीप रहो । ऐसे विचार करो जिससे परकी ओर बुद्धि न फंसे ।

जगतमें यही तो सब करते चले आये हैं, अपूर्व कार्य क्या किया । विषय शहद लपेटी तलवार है । इन विषयों से तत्त्व कुछ नहीं निकलता बल्कि अन्तमें गुण विकासकी ओरसे रीते ही रह जाना है ।

सर्व पुरुषार्थ करके स्वयंको स्वयमें प्रयुक्त करो ।

२८ मई १९५७

आज श्री ला० जिनेश्वरदास जी सपत्नीक सहारनपुरसे देहरादून आये। दोनो मुमुक्षु एव शान्त हैं। धर्मके प्रति इनकी गाढ श्रद्धा है।

जहा धर्म है, भेद विज्ञान है वहा शाति है। इन दोनो का आध्यात्मिक अध्ययन भी अच्छा है। जिनेश्वरदास जी ने ही स्वयं अपनी पत्नीको पढ़ाकर योग्य बनाया है। गृहस्थका कैसा आदर्श होना चाहिये इसके ये उदाहरण हैं।

जिस रूपमे भगवान जानते हैं उस रूपसे जाननहार रहो जितनी भी क्षयोपशम है उसके अनुकूल तो इससे तुम ससार सागरको पार कर जावोगे।

परमशुद्धनिश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय इन तीन का जो विषय है वह केवल ज्ञानी जानते हैं।

व्यवहारनयके विषयभूत सयोगको या सायोगिक प्रभावकी बात लगाने को भगवान नही जाना करते हैं।

इसीसे तो यह बता दिया जाता है कि व्यवहार उसे कहते हैं जो वस्तु स्वरूपको तो न देखे किन्तु प्रयोजनवश अन्य सम्बन्ध या उपचारको देखे।

भाइयो! व्यवहारनयसे विविध वार्तावोंका ज्ञान कर पश्चात् केवल निश्चयनयसे एकत्वको देखे तब तक जब तक कि विकल्पमात्र स्वय नष्ट न हो जावे।

२९ मई १९५७

रे भैया! कुमतिकी चाल छोडी नही जाती तुमसे। ससारमे साथी अन्य कोई नही है जिसका ध्यान करके तुम मलिन बनते जा रहे हो।

तुम्हारा शरण, तुम्हारा रक्षक, तुम्हारा मित्र, तुम्हारा गुरु, तुम्हारा पिता, तुम्हारा हितैषी एक मात्र स्वभाव प्रत्यय है।

स्वभावावलोकनके अतिरिक्त सर्व कुछ तेरा पतन है। अब ऐसा चित्त बनावो कि कुछ भी विकल्प तेरेमे अड्डा न जमावे।

एक अन्तर्मुहूर्तके शुद्ध उपयोगसे कोटि कोटि जन्मके पाप कट जाते हैं। सर्व विकल्प जालोंको छोडकर एक मात्र निजोपयोगी रहकर आरामसे जावो।

ससारमे रुलना है तब तो इस बातकी उपेक्षा किये जावो क्योंकि इस

उद्देश्यकी सिद्धि इस जिनोपदेशके न माननेसे ही होगी और यदि सर्व विकल्प क्लेशोंसे मुक्त होनेकी इच्छा है तो यह माने बिना तुम्हारी बात ही न बनेगी, चाहे आज मानलो या कभी ।

३० मई १९५७

क्या लिखें ?

क्या लिखूं ? कुछ न लिखो । क्यों ? इसलिये कि लिखना तुम्हारा कार्य नहीं है, यह कार्य विभावमें आये बिना नहीं होता । तो फिर लेखिनी हाथमें क्यों लिये हू ? यो कि तुमसे विभावसे हटा जाता नहीं । विभावसे हटा क्यों नहीं जाता ? इसलिये कि स्वभावकी ओर तेरा उपयोग थम रहा । तो ऐसी दशामें अब क्या करूं ? अच्छा, लिख लो जो तुमसे बने । अब लिखनेको क्यो कहते हो ? इसलिये कि जब शुद्ध उपयोग नहीं जमता तो शुद्ध उपयोगके लिये किये जाने वाले उद्यमको न करोगे तो विषय कषायमें पड़ जावोगे ।

लिखनेको क्या रखा सिवाय रोनेके । इसका समय रोने रोनेमें ही गया । जब अज्ञानान्धकार था तब पथ भ्रष्ट होकर रोया ही रोया । जब अन्तर्विवेक हुआ तब अपनी गलतियों पर रोता । अरे रोते ही रोते क्यो हो ? कुछ भी स्थिति हो, स्वभावको भी तो देखो और स्वभावदृष्टि द्वारा प्रसन्न रहो ।

अरे यह प्रसन्नता कब पाऊं । कब पाऊ ? काके उद्यम देख, जब न मिले तो रोकर आना ।

हे निज ध्रुव चैतन्य महा प्रभो ? निरन्तर तो बसे रहो एक अन्तमुहूर्त फिर मै तिरस्कार करू तेरा तो तब न आना । तुम दिखाई तो देते हो और एक क्षण भी ठहरते हो नहीं, विराजमान होते हो नही इस कारण तिरस्कार हो जाता होगा इस तेरे प्रेमीके द्वारा । तेरे जाप जपने वाले इस अनुरक्त पर अब बीती हुई बात पर ध्यान देकर बदनाम मत होओ ।

३१ मई १९५७

करनेको काम है शुद्धात्म भक्ति । प्रथम तो शुद्धात्मभक्ति है निजद्रव्य शुद्धात्मभक्ति । यदि इसमें न रहा जावे तो करो परमात्मभक्ति ।

स्वभाव दृष्टि और भक्ति दो के अतिरिक्त अन्य कुछ ध्यानमें मत लावो । अन्यके उपयोगमे तुम्हें अन्तरङ्गमें मलीमसता ही मिलेगी । इसके

फलोंको तो अब तक चखते आये। ये फल तो कीट पशु होकर भी पा लेनेके अधिकारी थे। फिर मनुष्य होकर विशेष लाभ क्या लिया।

प्यारे! गर्वाओ मत। सङ्कटमे तो पड़े हो और दूसरोंको भी संकटमें देख रहे हो फिर भी सावधान नहीं हुआ जाता। इस सम्बन्धमें तुम्हारी वह दशा है जैसी कि जानते हुए जंगलके बीच किसी वृक्ष पर चढ़ा हुआ मनुष्य जलते हुए जगलको खेल मान कर हस रहा है।

मत हसो! यार दो दिनकी चादनी देखकर।

मत रोओ मित्र अध्रुव अस्वभाव भावसें गुजर कर।

ॐ शाश्वतानन्दाय नमः, ॐ नमः सच्चिदानन्दाय। ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ। ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ। ॐ नमः ॐ नमः ॐ नमः ॐ। ॐ नम. ॐ नमः ॐ नमः ॐ। ॐ नमः ॐ नमः ॐ नमः ॐ। ॐ नमः ॐ नमः ॐ नमः ॐ।

१ जून १६५७

ब्रह्मचर्य परं दानम्, ब्रह्मचर्यं पर तपः, ब्रह्मचर्यं परं ज्ञानम्, ब्रह्मचर्य परं महः, ब्रह्मचर्यं परं मानम्, ब्रह्मचर्य पर हितम्, ब्रह्मचर्य परं स्थानम्, ब्रह्मचर्यं परं सुखम्, ब्रह्मचर्य परं मानम्, ब्रह्मचर्यं पर बलम्, ब्रह्मचर्यं परं वित्तम्, ब्रह्मचर्य परं फलम्, ब्रह्मचर्यं परं वीर्य ब्रह्मचर्य पर धनम्, ब्रह्मचर्यं पर तेजः, ब्रह्मचर्य पर यशः, ब्रह्मचर्य परं सत्यम्, ब्रह्मचर्य परं शिवम्, ब्रह्मचर्यं परं तत्त्वम्, ब्रह्मचर्यं पर व्रतम, ब्रह्मचर्य परं सत्त्वम् ब्रह्मचर्यं परा ऋतम्, ब्रह्मचर्यं परा क्रान्तिः, ब्रह्मचर्यं परा हवि छविः, ब्रह्मचर्य परा कीर्ति, ब्रह्मचर्यं परं ऋतु, ब्रह्मचर्य परा कान्ति, ब्रह्मचर्यं परं श्रुतम्, ब्रह्मचर्यं परा भक्तिः, ब्रह्मचर्यं पर श्रुतम्, ब्रह्मचर्यं ध्यानम्, ब्रह्मचर्य धृतम्, ब्रह्मचर्यं परं ज्योतिः, ब्रह्मचर्यं परं जप, ब्रह्मचर्य पर वृतम्, ब्रह्मचर्य पर तपः, ब्रह्मचर्य पर ब्रह्म, ब्रह्मचर्यं पर निधि, ब्रह्मचर्यं परं रत्नः, ब्रह्मचर्यं परोविधि, ब्रह्मचर्य पर धाम, ब्रह्मचर्यं परो वृषः रतिः, ब्रह्मचर्यं परं सम्पत्, ब्रह्मचर्य पराजतिः, ब्रह्मचर्य परा शक्ति, ब्रह्मचर्य परात्क्षान्ति, ब्रह्मचर्यं परं शांति, ब्रह्मचर्य परादमः, ब्रह्मचर्यं परानतिः, ब्रह्मचर्य परं शमः, ब्रह्मचर्य परं मन्त्रम्, ब्रह्मचर्य पर रहः, ब्रह्मचर्यं परं तन्त्रम्, ब्रह्मचर्यं परं सुहृत्,

ब्रह्मचर्यं परा सिद्धि', ब्रह्मचर्यं परं पदम्, ब्रह्मचर्यं परो योग', ब्रह्मचर्यं पर स्वाध्याय, ब्रह्मचर्यं पर शील, ब्रह्मचर्यं परो गुरु, ब्रह्मचर्यं परो देव, ब्रह्मचर्यं परं शुचि ब्रह्मचर्यं परो गुरु, परो जय, ब्रह्मचर्यं पर क्षेमम्, परो गुण, ब्रह्मचर्यं पर स्वास्थ्य, परं वर रुचि, ब्रह्मचर्यं पर सद्म, ब्रह्मचर्यं पर दुर्गम्, ब्रह्मचर्यं परं सारम्, ब्रह्मचर्यं परं साम्यम्, ब्रह्मचर्यं पर श्रेय, ब्रह्मचर्यं पर शौचम्, परं संयम, ऋद्धि भोग. ।

२ जुन १९५७

हे आत्मन् तुम्हारी रक्षा इस ही मे है कि तुम अपने आपकी दृष्टि बनाये रहो । तुम्हे पता है कि इस समय तुम्हारा ज्ञान विशाल नैमित्तिक हो रहा है, आज तो यह ज्ञान है कल यह साधन न रहा, गमजी हो गये तब तुम्हारा क्या हाल होगा । कुछ तो अपना विचार करो, कुछ तो अपनी दया करो । पुण्यका उदय है तो इस उदयमे विष पान मत करो ।

विषय और कषाय ये दो ही तो अहित हैं जिनके विषयमे मुसलिम भाई कहते हैं कि दो दैत्य दो कंधे पर बैठे रहते हैं ।

स्नेह और भय ये दो ही संसारके नेता है जो जीवको खींचे हुए फिरते हैं जिनके विषयमे कुछ बन्धु कहते हैं कि दो पिशाच हर एक रूहके आगे पीछे रहते हैं ।

आहार भय मैथुन और परिग्रह ये चारो संज्ञायें जीवके बन्धक हैं जिनके विषयमे उक्ति है कि चार पहरेदार जीवके चारो ओर पहरा देते रहते हैं ।

जीव पर अभी महान् संकट छाया हुआ है जिसकी कुछ खबर न रख कर पुण्यके उदयमें बह कर मोही भटकता रहता है ।

रे भाई पुण्यके उदयमे हर्ष मत मान अन्यथा अभी पापका उदय आते ही बुरे रोओगे ।

रे भाई पापके उदयमें विषाद मत कर । यह अब नैमित्तिक है अभी नष्ट होने वाला है इसमे बह जानेका फल जरूर दु:खकी परम्परा बढा देगा । संभलकर रहोगे तो ये नष्ट तो हो ही जावेगा । आगेकी परम्परा भी न बढावेगा ।

३ जून १९५७

आज प्रातः ८ बजे हस्तिनापुरमें मुमुक्षु आश्रमका उद्घाटन हुआ और ८॥ बजे गुरुकुलके नवीन वर्षका प्रारम्भ समारोह हुआ।

लोक सब सुख चाहते हैं और इसके अर्थ उनके द्वारा दो प्रकारके आरम्भ किये देखे जाते हैं। (१)—शारीरिक उपचार भोजन आदि, (२) मानसिक उपचार। शारीरिक उपचार तो बहिरङ्गसे सम्बन्धित है और मानसिक उपचार अन्तरङ्गसे सम्बन्धित है। इस तरह अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दो प्रकारोंमें सुखका यत्न लोक करते हैं। बहिरङ्ग तो दिखाई देता है अतः उसके विषयमें अनेक बात स्पष्ट है किन्तु अन्तरङ्ग अदृश्य है अतः उसमें कुछ विवाद रहता। मूल बात यह है कि अन्तः एक तत्त्व ऐसा है जो कि चेतन है अतश्च शरीरसे भिन्न है। शरीर और चेतनसे इन दोके उपचार लोक करते हैं। सो सुखके लिये शरीरका उपचार तो सम्यक् उपाय है नहीं। अन्तरङ्गका भी उपचार मनस्तुष्टि मात्र रूप रह जाता है।

बहिरङ्ग उपचार तो अन्तरङ्ग उपाय करनेकी योग्यतामें आई हुई बाह्य बाधाको दूर करनेके प्रयोजनके अर्थ है। अब अन्तरंग उपचार पर ही विचार और प्रयत्न करना ही शेष रह गया।

आत्माका उपचार भोजनसे भी अधिक आवश्यक है। वह उपचार है ज्ञान और ध्यान। ज्ञान और ध्यानमें हमारा अधिक समय बीते ऐसा ही भाव और यत्न रहे।

आज जयपुरमें जैन पंचायतकी ओरसे चातुर्मास्य विषयक स्वीकृति लेनेके अर्थ तार आया। जयपुरके महानुभाव सुजन प्रकृतिके हैं। यहां ५ साल पहिले एक बार चातुर्मास्य हो चुका है। क्या होगा यह मुझे अभी विदित नहीं। आज शामको मवाना आये।

४ जून १९५७

संसारमें सर्वत्र दुख ही दुख है। एक दुखी अपनेसे धनी को देखकर अथवा प्रतिष्ठितको देखकर यह सुखी है ऐसी कल्पना करता है। उसका दुख उसके अनुकूल है हमसे भी अधिक है। ऐसा समझ नहीं पाता।

हे प्रियतम निज चैतन्य ! मेरे उपयोगमें सदा रहो जिसके प्रसादसे

मै विषय कषायोके झंझटोंसे मुक्त हो जाऊ। दुःख केवल विषय कषाय हैं। इन्हें न करो और फिर देखो सर्व आनन्द ही आनन्द है।

क्लेश है भी क्या? बतावो तो। जिसे रोज भोजन मिलता हो शीत उष्ण बाधा मिटाने योग्य वस्त्र जिसके पास हों फिर और पूछो कि भैया तुम्हें क्या दु:ख है? क्या बतायें जो वह कहेगा सो सब पागलपन है।

बना बनाकर क्लेश भोगते, इसे ही तो पागलपन कहते हैं। यह पागलपन, मोह ही तो है। इसलिये यह कहलो कि मोह ही पागलपन है।

लोकमें भी देखो श्रीरामचन्द्र जी मृत लक्ष्मणको ६ माह लिये फिरे इसे चाहे मोह कहलो चाहे पागलपन। मोह छोडकर ही श्री रामचन्द्र जी सुखी।

आज शामको मवानासे चलकर मसूरी ग्राममें पहुचे।

५ जून १९५७

आज प्रात मेरठ पहुचे। यहा श्री महावीर प्रसाद जी बेङ्कर्सकी धर्मकी ओर अच्छी लगन है इनके परिवारका भी धर्मकी ओर विशेष उपयोग है।

अपना स्वभाव अपना धर्म है। स्वभावकी दृष्टि करनेका नाम धर्म करना है।

अन्य सर्व पदार्थ तुझसे अत्यन्त भिन्न हैं उनसे तुझे कुछ मिलता ही नहीं। पर पदार्थको ओर झुककर जो अपना भाव बनाओगे वह भाव भी अध्रुव है और अशरण है। फिर वह विभाव भी नैमित्तिक होनेसे तेरे स्वभाव से विपरीत है। सर्व अहितोंसे आत्मबुद्धि छोडो और अपने उपयोगको अपने ध्रुव स्वभावमें जाडो।

ॐ शान्ति:, ॐ शान्ति, ॐ शान्ति। सर्वत्र शंभूयात्।

६ जून १९५७

यथार्थ ज्ञान ही जीवका शरण है। यथार्थ ज्ञान होने पर अयथार्थ ज्ञान बनाये भी नही बनता। अयथार्थ ज्ञान भ्रम है। भ्रम ही दु:ख है। दुःख मेटो याने भ्रम मेटो।

तुम्हें जगतमें करनेको क्या काम पडा है? बतावो तुम किसी भी पर पदार्थका क्या कर सकते हो प्रदेश तो परका बना नहीं सकते। परका प्रदेश

तो परमें स्वत: सिद्ध है। परका काल याने परिणमन भी तुम नहीं कर सकते क्योंकि परका परिणमन उस ही परकी शक्तिका विकास है। अन्य किसी की शक्तिके विकास रूपमें तुम नही परिणम सकते। परका भाव भी याने गुण भी तुम नही कर सकते। परके गुण उस ही परमे तन्मय हैं। गुण भी क्या हैं? जिन विशेषतावोंसे द्रव्य पहिचाना जावे उन विशेषतावोंको गुण कहते हैं। किसीके गुणोंको भी तू नहीं कर सकता।

अब बता तुझे जगतमे कौनसा काम करनेको पड़ा है? कर सकेगा क्या कुछ अन्य?

नहीं, तो फिर बता क्या कर सकता तू? मै अपने भाव। तो भाव ऐसे बना जिसमें संकटका नाम न रहे। वह भाव है शुद्ध चैतन्यकी दृष्टि। यदि इसमे स्थिरता न रहे तो निष्फल सर्वथा शुद्ध सिद्ध भगवानका ध्यान कर।

७ जून १९५७

समस्त बाधा बस माननेकी है। पर वस्तुकी ओर झुके रहो इसके लिये कौन जबर्दस्ती करता है। अज्ञानसे तुम ही झुकते हो तब इससे रोक भी कौन सकता है।

हित तुम्हे अपने आपमे मिलेगा। परकी दृष्टि सर्वथा छोड़ो।

अहित, अकल्याण और दुःख भी होता है तो वह भी तुम ही मे होता है किन्तु उसका रूपक परकी ओर दृष्टि किये हुए उपयोग रूप है।

जगतमे अन्यत्र कहा नाटक देखने जावोगे। नाटक तो तुम भी कर रहे हो। अन्यत्र नाटक देखना उन बालकोंके देखनेकी भाति है जो प्रथम नाटक में प्रविष्ट होते हैं और दूसरे बालकोंके नाटकको भी चित्तसे देखते हैं। यद्यपि यह जीव अनादिसे नाटक करता चला आया है तथापि इसे पूर्व भवो के नाटकोंका ज्ञान व विश्वास न होनेसे अपनेको नई दुनियामें आया हुआ देखता है और इसी कारण अनेकोंके अनेक नाटकोंको भी हितकर, सुखकर समझकर देखता है।

अपना नाटक समाप्त करो।

८ जून १९५७

दुःखका कारण मोह है इसका अर्थ है दुःखका कारण दो या अनेक

पदार्थोंके सम्बन्ध माननेकी दृष्टि है। क्योंकि मोह हो या अनेक पदार्थोंके सम्बन्ध माननेकी दृष्टि हो रहते हैं।

जब कहा जाय कि मोह छोडो तब यह भाव समझना कि दो या अनेक पदार्थोंके सम्बन्ध माननेकी दृष्टि छोडो।

यह सम्बन्ध दृष्टि कैसे छूट सकती है? यदि पदार्थ सम्बद्ध नहीं है तो उन्हे उस ही प्रकार असम्बद्ध जान जानेसे सम्बन्ध दृष्टि छूट सकती है।

पदार्थ सब अपने ही प्रदेश गुण पर्यायमे हैं। सर्व असम्बद्ध हैं।

बस पदार्थ जैसा हैं वैसा जान लो मोह छूट ही जाता है।

मोह तो ज्ञानसे ही छूटता है। मोह नष्ट होनेके बाद भी पूर्व बद्ध कर्मके उदयको निमित्त पाकर अवशिष्ट रागादि विकार आते हैं उन पर विजय पानेके लिय व्रत तप संयम आदिक उपाय भी किये जाते हैं। इनसे विकारके विजयमे सहायता मिलती है।

मोह सम्यग्ज्ञानसे ही दूर होता है। ॐ शुद्ध चिदस्मि, ॐ शुद्ध-चिदस्मि, ॐ शुद्ध चिदस्मि।

९ जून १९५७

१—प्रत्येक द्रव्यके प्रदेश, गुण और पर्याय अवश्य होते हैं।

२—प्रत्येक द्रव्यके प्रदेश, गुण और पर्याय उसके उसमे ही होते हैं।

३—किसी एक पदार्थका किसी दूसरे पदार्थके साथ कर्ता कर्मभाव नही है।

४—जो परिणमे सो कर्ता, जो परिणमन हो सो कर्म ऐसा कर्ता कर्मभाव एक ही पदार्थमे होता है।

५—मलिन पर्याय परिणत द्रव्यका मलिन पर्याय परिणत द्रव्यके साथ मात्र निमित्त नैमित्तिक भाव है।

६—निमित्त नैमित्तिक भावका इतना तात्पर्य है कि परिणमने वाले पदार्थमे ऐसी विशेषता है कि वह किसी विशिष्ट पदार्थको निमित्त मात्र पाकर अपनी शक्तिसे विभाव परिणमन कर लेता है।

७—विभाव पर्याय किसी एक द्रव्यके प्रदेशमें होकर भी और उस द्रव्यकी शक्तिका परिणमन होकर भी तथा उस ही द्रव्यकी हालत होकर भी

शुद्धनयसे वह विभाव परिणमन उस द्रव्यके नही है।

ॐ शुद्ध चिदस्मि।

१० जून १९५७

कोई भी आत्मा हो वह अन्य मेरेमे कुछ परिणमन नही करता। सारा जगत बडाई करे उससे मुझे कुछ नही मिलेगा। यदि मिलने की ही बात पूछो तो उसको आश्रय करके जो मलिन परिणाम बनाया वह मिला। यह लाभ है कि अलाभ या हानि सो विचार कर लो।

तुम्हे क्या होना! कुछ नहीं होना, जो होना हो सो होओ। हमे तो अज्ञान अन्धकार पसन्द नही था। यह अज्ञान दूर हो गया। वस्तु जिस प्रकार है उस प्रकार उसे समझ लिया। यह विवेक मेरे बना रहे इसके अतिरिक्त और कुछ होनेका मेरे ध्यान नहीं। यह विवेक कब तक रहे? जब तक कि विवेकमे से ही गुजरते हुएमे विवेक विकल्प छूटे।

कोई कुछ भी कहे वह अपने ही भावको उगल रहा है। किसीने किसीको न अब तक सभाला न आगे कभी संभाल सकेगा। यह सब तो मात्र भ्रमवश स्वच्छन्दजात कल्पना है।

किसीसे कुछ मुझे मिलना नहीं है जैसा विचार करता हू, वैसा ही अनुभव करता हू। जैसा अनुभव करता हू उस ही के अनुरूप सुख या दु ख पाता हू।

मैं अपने आप ही अपने पैर पर कुल्हाडी पटकू तो इसमें दूसरे की क्या खता। मैं अपने आप ही तो अपनी शक्तियोसे परिणमता हू, वैसा ही परिणमूं।

अपना सहाय अपना ही ज्ञान है। अपना सर्वस्व अपना ही विशुद्ध भाव है। यह नही तो कुछ भी नहीं।

११ जून १९५७

सर्व विकल्पोसे अत्यन्त उपेक्षित होकर अल्प समय भी रह लिया जावे तब वह स्थिति अनन्त कर्मोकी निर्जराका कारण होती है।

सबको भूलो, निजके प्रकाशमे रहो। रे प्रिय! यहा तेरा कोई नहीं है। कौन क्या मदद करेगा। सबसे वियोग होता रहना संसारकी आदत है।

रे प्रभु प्यारे ! तू अपने आप पर दया कर, अपनेको अब दुःखी न बना, अपने रामको मलिन न कर। विषय कषायके परिणाम ही शत्रु हैं। ये भीतर आकर तेरा बिगाड कर रहे हैं। बाहरके किसी पदार्थसे तेरा बिगाड सुधार नहीं होता। बाहरके विषयक सर्व विकल्प छोड। सर्व ते सुख माड।

परचिन्ता मत कर। पर पर ही है, अनायास या अल्पायास्त' किसीका कुछ बनता हो बन जाय ? किन्तु किसीका कोई विकल्प लादे रहना बुद्धिमत्ता नही है।

तू एक स्वतन्त्र अखण्ड द्रव्य है। अपना परिणमन अपनेमें करता है। अपने आपसे बाहर तेरी कोई कला नहीं है। भ्रम भ्रममें रहकर अपनी जिन्दगी मत खो डाल।

१२ जून १९५७

आनन्द तेरा तुझमें ही है। किसी परकी ओर दृष्टि मत दे। यदि किसीभी परकी ओर चाहे वह चेतन हो या जड, रूचि रही तो आनन्दसे हाथ धो बैठोगे।

कुछ अपना मत मान, फिर यदि क्लेश हो तो कहना। मैं आत्मा त्रिकाल अबाधित हू। किसीभी परसे मेरेमें बाधा नहीं आती। बाधा आवे ही आवे तो वह मेरे अन्तरकी गलतीसे आती है।

कुछ नहीं चाहना ही सुखका मूल है। मैं अपना ही कर्ता हू, मेरे द्वारा मैं ही किसी न किसी अवस्था रूपमे किया जाता हू, मेरे ही परिणमनसे मैं किया जाता हू, जो कुछ दिया जाता है मेरेमें मेरा काम उसका फल उस ही समय मैं ही पा लेता हू।

परिणाममें चैतन्य गुण स्वरूप बसा हो वहा सब साधन हुआ समझो। जब निज स्वभावकी प्रतीति नहीं होती तब विकल्प राक्षसोंका उपसर्ग फैला रहता है।

ज्ञानसे समझते हुए तथा बाह्यकी ओर न झुकनेका उत्साह रखते हुए भी यदि विभाव हो तब तो कह मैं क्या करूं उदयकी बलवत्ता है। खुद ही भावोंमें शिथिल हो जाय तब अन्यको दोष देना व्यर्थ है।

१३ जून १९५७

इन्द्रिय दमन एक वह अद्भुत शस्त्र है जिसके बल पर मोह राग द्वेष पर विजय पाना आसान रहता है ।

इन्द्रिय दमन एक वह अद्भुत गढ है जिसमे बसकर आत्मा अनेक शल्य पिशाचोंके आक्रमणसे बचा रहता है ।

इन्द्रिय दमन एक वह अनुपम अमृत है जिसके परिणमनमय पानसें आत्मा अमर आनन्दका भागी हो जाता है ।

इन्द्रिय दमन एक वह पुरुषार्थ है जिसके कारण यह आत्मा विषय कषायकी घाटीको पार कर निज आराममें पहुंच जाता है ।

यह दोहा जो अनेक जगह शास्त्र सभाके मध्य व अन्तमे पढा जाता है वह बडे कामका है ।

तप करते यौवन गयो द्रव्य गयो मुनिदान ।
प्राण गये सन्यासमें तीनों गये न जान ॥

जवानी तो बीतती ही है और बीतने पर शीर्ण अवस्था मिलती है । तप करनेमें यदि कुछ भयकी चीज है तो यह हो सकनी होगी कि शरीरशीर्ण न हो जावे सो शरीर तो शीर्ण होना ही है । यदि तप करते हुएमें जवानी बीत गई, शरीर शीर्ण हो गया तो कुछ भी नही गया जानिये ।

शरीर तो शीर्णस्वभावके कारण शीर्ण होता है । तपसें तो आत्मीय लाभ मिल ही जाता है ।

१४ जून १९५७

मौन व्रत बहुत शक्ति बढानेका उत्तम साधन है । इस व्रतमे शान्तिभी अधिक रहती है । अधिकसे अधिक मौन व्रत निभ सकता है अपनी परिस्थिति के अनुकूल तो इतना-प्रात ॥घंटा प्रवचन व ॥ घटा पाठन इसप्रकार १। घटा दुपहर १। घटा शङ्का समाधान व स्वाध्याय रूपमें पाठन इस प्रकार १। घटा ॥घंटा प्रमुख अथवा अन्य महान भावसें आवश्यकता होने पर वार्तालाप इस प्रकार कुल ३ घटे ही बोलकर शेष काल मौनसे रहा जा सकता है ।

यह जगत तुम्हे क्या देगा ? कुछ भी नही दे सकता । क्यो नही दे सकता ? मेरे स्वरूपमे अन्यका प्रवेश हो ही नहीं सकता । क्यो नही हो सकता ?

क्योंकि मै हू। सभी सत् अपनेही चतुष्टयसे होते।

न मुझमे कुछ अन्य आ सकता है और न किसी अन्य द्रव्यकी चीज उससे बहार जा सकती है और न हा मेरी कोई चीज मेरेसे बाहर जा सकती है।

ऐसा स्वरूप है तब हमे अब क्या करना? कुछ नहीं करना, बस ऐसा स्वरूप जानते भी रहो जब तक तुम निर्विकल्प दशामे वर्तकर स्वरूप ज्ञाता न हो जावो।

आत्माका स्वरूप ध्रुव है उसका उपयोग आकुलताओसे बचाता है। आकुलतासे बचने पर आत्म समृद्धिशाली होता है। इस समृद्धिसे परमात्मता प्रकट होती है।

परमात्मो हुए कि कृतकृत्य हुए।

ॐ नमः शुद्धाय, शुद्धिनिमित्ताय।

१३ जून १९५७

वस्तु स्वरूप जानने पर भी परोन्मुखवृत्ति हो जाती है ऐसे प्रसगमें क्या कहा जावे जाना है अथवा नहीं।

जाना है तब विषय कषायकी ओर चित्त क्यो जाता। यदि नही जाना है तब वैसा बोल और विचार कैसे लेते। यह समस्या एक बडी समस्या है। चित्त लगकर चित्त हट हट जाता इतनी बात तो सही है किन्तु परकी ओर चित्त लगता ही क्या है? इसका कारण अश्रद्धा तो नहीं है।

जिसे जो ज्ञान है वह प्राय वैसी श्रद्धाको लिये होता। जानने पर भी वैसा कर नही पाते इसमे कारण पूर्वकी कृति है।

निरन्तर निजस्वभावका दर्शन, मनन करो जितना बन सके और फिर कुछ गुजरे, सबकी सम्हाल हो जावेगी।

आत्मन्! तू शुद्ध है, शुद्धका तात्पर्य परकी षट्कारक प्रक्रियासे परे है और निजकी षट्कारक प्रक्रियाके अभिप्रायसे परे है।

आत्मन्! तू एक है, एकका तात्पर्य अनेक पर पदार्थोसे गुजर गुजरकर तू [illegible] रहता है और अनेक निजकी पर्यायोसे गुजर कर किसी भी पर्यायरूप तुम न [illegible] रहने सो पर्यायोसे गुजर कर तू आगे बढता ही चला जाने वाला

एक है।

१६ जून १९५७

हे निज प्रभो! तुम स्वय अनुपम अमित आनन्दके भण्डार हो फिर परकी आश करके प्रभुता क्यो खो रहे हो।

हे ज्ञान घन! तुम स्वय अनन्त ज्ञानके स्रोत हो फिर परके ज्ञान बढ़ानेकी और एतदर्थ परको आश करके क्यो अज्ञान जडसे बन रहे हो।

आत्मन्! तुम्हे कही कुछ नही करना। आरामसे निष्कम्प निर्विकल्प बने रहो। यह बात वस्तु स्वरूपके जानने पर स्वय हो जाती है। सो प्यारे वस्तु ज्ञानके उपयोगमे अभीक्ष्ण वर्तो।

तुम्हे परसे कुछ नहीं लेना, परमे कुछ नहीं चाहना। हिम्मत तो करो स्वतन्त्र स्वय रमण करनेकी, सर्व निज शाश्वत आनन्दका प्रवाह पा जावोगे।

जब तक अपने आनन्द पानेकी हिम्मत नही करते हो पर पदार्थ सुख- दायक हितकारक मालूम होते रहेगे और इस चक्करमे तुम कभी दु खसे छूट न पावोगे।

हिम्मत करो, सब कुछ भूल जावो, अपने उपयोगमे वर्त जावो। देखो पर न मिले इसमे तुम्हारी सत्ता नही जाती, तुम्हारा परिणमन बन्द नही हो जाता। वस्तु स्वय परिणमनशील है। वस्तुका वस्तुत्व समझो और प्रसन्न रहो, एतदर्थ निरपेक्ष रहो।

१७ जून १९५७

रे परेशानी दूर हट

आत्मन्! तुम राग द्वेषादि विभावसे परेशान हो। परेशान मत होओ, बात सुनो। देखो यह आत्मा है सस्कारमे मलिन है इसके अभिमुख, जो निमित्त उपस्थित होता है उसको प्रतिफल स्वरूप ये रागादिभाव झलकते ही हैं उनमे आत्मन् तुम क्या करोगे और जो रागके विरोधमे हो जायगा वह विधि पूर्वक हो ही लेगा।

सच जानो राग झलकनेके मामलेमे तो तुम ऐसे हो जैसे जड पर्दा पर फिल्मका फोटो झलकता है उस पर पर्दा क्या करे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा है। तुम्हारा आत्मा पर्दा पर कर्म विपाककी फिल्म, आती

तुम क्या करो।

परन्तु हे आत्मन् विवश न होओ अधीर न होओ। रागादि विकार जिस गुण पर आते वह चेतन नहीं वहा वैसा होना पडता है क्या वश है किन्तु प्यारे तुम एक काम तो करही सकते हो। रागादि भावो को अपने स्वभावमात्रकी कलासे उठे हुए न मानो और सोचो ये रागादि हुए हैं निमित्त नमित्त सम्बन्धकर हुए हैं, औपाधिक है दूसरे क्षण रह नहीं सकते ये मिटते हैं। लो यह भाव मिट गया। मिटने वालेसे मेरा नाता नहीं, मैं तो इससे गुजरकर आगे भी रहता हू।

१८ जून '१९५७

रे उपयोग! रागादि आते हैं तो उन पर झलक करके हंस और हस हस कर उनमें न फसकर उन्हे गुजार दे।

ये रागदि भाव जो कर्मोदयके विपाकमे उत्पन्न हुए हैं मेरे स्वभाव नहीं। मैं चिन्मात्र हू। ये होते हैं होओ मैं जान रहा हू। किन्तु दूसरे समय मेंही न रहने वाले इनसे अब कोई कहे जरा रिश्ता तो जोड लो थोडी देरको अपना तो मानलो। बतावो प्यारे कैस मान लू जब इनकी कलई जान ली कि ये औपाधिक हैं दूसरे क्षण इनका नाम भी नहीं रहता मुझमें तो नव्य २ परिणमन चलता रहता एक समयको परिणमन होता है वह दूसरे समय नहीं ठहरता। इतनी बडी २ पोलें जो अज्ञानक प्रपापसे ढकी हुई थी, जान ली अब तुम्हीं बताओ मैं भ्रम कैसे कर डालू कि येमेरे वैभव हैं, हित हें आदि।

अब भ्रम होना कठिन है। जान लिया, मान लिया, छान लिया, ठान लिया। अब मैं बच्चा नही रहा। श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य जैसे अध्यात्म गुरुवोकी दुकानमे काम संभालनेमें चित्त जम रहा।

रागादि भावो! दूर हगो परकृत परिणाम। सहजानन्द रहें अभिराम।

१९ जून '१९५७

प्रियतम चैतन्य! मेरे प्राणाधार! मैं यह परिणति तेरे आधार पर जीवित हू। कुछ मैंने समझा है कि मैं जीवित दूसरे समय नहीं रह सकती और यह पूर्ण निर्णय हो गया है आपके दरबारमें। सो नाथ! मैं भी आप जैसे आधारकी महत्ता जानकर आपकी महत्ता धूलमें नहीं मिलाना

चाहती। मैं तो अब जीवन भिक्षा न मागकर केवल यही चाहती कि मुझ परिणतिका रूप आप बदल दो। परिणतिका वह रूपक हो जावे कि जिस मुझ के मरनेके बाद वैसीही परिणति अनन्तर उत्पन्न न हो और लगातार वैसी ही परिणतिया आपके अगमें लिपटी रहा करती जावें। हमे इसीसे सताप है कि कमसे कम आधे पढ़े लिखे लोग तो यह जानते रहेगें कि इस चतन्य महा प्रभू प्राणाधारकी रमणी वही है मरी नहीं।

हे नाथ! अब तो विमुख न होओ हम तुम एक हो घुल मिल जावें। देखो आदिमे भी तो ऐसाही था भल ही अज्ञानमें वह मान्यता इस घुलने मिलनेको पुष्ट करती थी। अब आगे स्वभाव और परिणतिका घुलना मिलना हो जावे।

२८ जून १९५७

सच कहू देव! इस अन्तरात्माकी स्थितिके कालमें मेरे प्राणो पर संकट आ गया है। तुम्हारी रमणीमै परिणति तो अनादिसे राज्य करती आई हू। आगे भी आपका कर्मयुद्ध समाप्त होने पर आपमे समाकर एक भेद होकर अनन्त साम्राज्य भोगूगी। परन्तु ये भेद विज्ञानके दिन मेरे लिये सकटके दिन हैं। मेरे राज्यमे इस बीचकी स्थितिने बडी बाधा उपस्थितकी है। कुछ खेद नहीं महाराज। आने दो सकट। इस संकटसे पार होकर फिर तो निष्कम्प राज्य करना है मुझे।

यह मैं हू आपकी परिणति रमणी।

हे बुद्धे! क्या करूं कहा जाऊ इसका शोक नही करना।

यहीं रहो अपना ही काम करो कुछ गम होगा ही नही तुझे हे बुद्धे!

सचको जानो, अपने आप विकल्प छूट जायगा। क्योकि सच निर्विकल्प होता है।

प्रत्येक पदार्थको अकेलोंको किसीको भी एकको जानो देखो जितना वह उतना ही उतनेमे कोई खेद हो ही नहीं सकता।

ॐ शुद्धं चिदस्मि:।

२१ जून १९५७

क्यों अनेक विकल्प हो जाते। ज्ञानोपयोगमे तो रहते नहीं और समागम

में पडते हो ।

कोई भी तुम्हारा रक्षक नहीं । तुमने मौनव्रत लिया है निभाओ, निभाते जाओ ।

लो आजसे मैंने दो माहको सुबह १॥ घटे बोलना चौथे पहर १ घटा बोलना और आवश्यक्ता अधिक होने पर कभी ३० मिनट बोलना इनके अतिरिक्त मेरे मौन है ।

जीना तो अनादिसे लगा चला आया है, जीनेमें कोई सिद्धि\नहीं, शान्ति नही । विषय प्रसङ्ग भी अनादिसे चला आ रहा है इस प्रसगमे भी कोई सिद्धि नहीं, शान्ति नहीं । परके समागम मुझे क्या दे देंगे । किसी द्रव्य से किसी द्रव्यमे कुछ आता जाता तो है ही नहीं ।

मुझे अपना काम करना है । वह हमारा काम ज्ञाता दृष्टा रहना ही हे । विकल्प आते हें कर्मके उदयवश वह निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धकी लीला है । मैं इसमे क्या करू । कर्म उपार्जे उनका उदय आया । मेरा तो वश यही चल सकता है कि विकल्प भी जैसे हें उन्हे भी जानता मात्र रहू ।

मै चित्स्वरूप हू विकल्प औपाधिक है । ये आये हें अभी ही अभी चले जायेंगे मै इन्हे छोड कर आगे बढू गा । विकल्पोसे मै क्या नाता जोडू ।

२२ जून १९५८

जीवन बिगडता है, ठोकरे लगती हें , चेत होता है पीछे । यह है कुछ समझदारोकी चर्या । जिनका पूर्वभवका जीवन भी उत्कृष्ट चर्याका रहा आया हो ऐसेही कोई विरले सन्त जीवनमे प्रारम्भसे ही बडे सावधान रहते हैं । उनकी अलौकिक प्रतिभा और चर्या पर साधारण लोगोको आश्चर्य होने लगता है ।

जिन्होने निज आत्माको अपने हस्तगत (उपयोगगत) कर लिया उन्हें शान्ति ही हे, पर द्रव्यसे विरत रहनेमे उन्हे कोई क्लेश उत्पन्न नहीं होता ।

यह शरीर तो जला दिया जायगा, गाड दिया जायगा, पक्षियोके द्वारा नोंच लिया जायगा, सड जायगा, गल जायगा, कुछ होगा, बरबाद हो जायगा । ऐसा हम देख भी तो रहे हैं अनेकोका हाल । इतना भी एकाग्रता

से जाने और इससे मैं जुदा हू ऐसा अनुभव करे तो आत्मन तू पार हो जायगा।

बाह्य तो बाह्य हैं, उन्हे अपना माननेमे कुछ सिद्दि नहीं है वे तो अपने चतुष्टयसे हैं रहेंगे। संयोग वियोग तो क्षेत्रान्तरकी अवस्थितिकी बात है।

हे आत्मन तू अखण्ड केवल निजरूप ही है अपनेमे तू परिणमता रहता है। परिणमता रहता है कैसा भी परिणम लो। इसके अतिरिक्त तुझमे अन्य कुछ आना नहीं है। अब पन्थ देख ले, तुझे कैसा परिणमना है इसका विचार करले। परसे तो तेरी रस्सी ही कटी हुई है। अब अपने घरको सम्हालले।

२३ जून १९५७

मै विवश नही हू, अन्धेरेमे नही हू किन्तु चरणानुयोगकी किसी बाडका अतिक्रम करता हू तो संक्लेशमे पड जाता हू। चरणानुयोग भी महत्वकी की चीज है। द्रव्यानुयोग व चरणानुयोग दोनो पन्थोसे गुजरकर हम अबाधित बने।

सर्व कुछ कर सकता हू अपना सर्वकल्याण कर सकता हू। चेतन हू ना। इसीलिये मै महान अलौकिक तत्व पा सकता हू।

हे नाथ! हे नित्य निरञ्जन निर्मल शुद्धात्मदेव! तुम्हरी चर्चा तो करने लगा हू। इससे यह बात तो कुछ निश्चितसी हो जाती है कि कुछ परिचय आपका पाया है। यह परिचय वृद्धिगत हो। मेरी यही आन्तरिक भावना है।

मैं जब चाहे किंकर्त्तव्य विमूढसो हो जाता हू। इसका कारण है और वह यह है कि रास्ता तो जान लिया जो करना है जिससे शान्ति है और द्रव्यस्वरूप तो जान लिया है किन्तु पता नही जसा जाना वैसाकर नही पाता, हो नही पाता। यही ठेस कभी किंकर्तव्यमूढ बना देती है। बताओ हम इसमे भी आनन्द मानते हे। जो बर्तना हो बर्तो। मै क्या करू। जो होना है वह होता है।

२४ जून १९५७

जो होना है वह होता है। यह कैसे जानी क्योंकि सर्वज्ञ देवको सब

ज्ञात है। यह बात ठीक है ? हा ठीक है तब सब सर्वज्ञदेवका स्वरूप तुम निरंतर जानते रहो। सर्वज्ञ वह है जो प्रत्येक द्रव्यका सर्व कुछ जानते हैं। वे सर्वको केवल केवल जानते हैं। किसीका किसीके साथ सम्बन्ध जोडकर नहीं जानते जैसा सर्वज्ञ जानते हैं वैसा ही सत्य है।

प्रत्येक द्रव्य स्वयकी योग्यतासे परिणमता चला जाता है। कौन कैसे परिणमता चला जाता है यह बात परिणमने वाले द्रव्यमें है। निमित्त तो उपस्थित मात्र है वह तो अपने परिणमनका स्वामी है। उसे निमित्त पाकर अन्य द्रव्य अपने प्रकारमें परिणाम लेता है।

अहो सर्व द्रव्य निश्चयसे स्वतन्त्र ही हैं।

प्यारे ! तुम जानो देखो कुछ भी, प्रत्येकको केवल केवल जानो, क्यों कि हैं भी सभी निश्चयसे केवल केवल।

प्यारे ! तुम भ्रमसे ही तो परेशान थे। कुछ गुजरे, कुछ बने। तुम अब भ्रममें न पडना, जानते रहना सच सच। अवश्य कल्याण होगा।

२५ जून १९५७

किसी भी समय मैं अपने परिणमनको छोड अथवा अपने परिणमनको करता हुआ किसी परके परिणमन को नहीं करता।

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्का याथात्थ्य जानना सम्यग्दर्शनका मूल है।

सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग. का आद्य बीज उत्पाद व्यय-ध्रौव्ययुक्त सार है।

मुझे किसीसे बोलनेकी आकांक्षा नहीं, कोई मेरी प्रशसा करे इसकी कोई चाह नहीं। जान तो लिया सब। मैं बेशरम रहना चाहता हू। कल्याणके लिये भीतर जो करते बने करूं। फिर बाह्यमें लोग जो कहते बने कहें कहना कहने वालोंकी चीज है उससे मुझे क्या।

मैं अनादि अनत अबाधित अन्त प्रकाशमान चित्स्वभाव हू।

क्या करू ऐसा कुछ परेशान न होओ। जगतके साक्षी बनो। लोगों की ओर दृष्टि न दो।

लोगोंमें वृकायदे कीर्ति बनना भी तो हमारे भ्रमका, पतनका मार्ग हो

सकता है। बाहर क्या गुजरती इसका विकल्प मत कर।

चित्त शान्त नहीं बैठ पाता कुछ सोचनेको चाहिये ही चाहिये। लो सोचनेका काम एक बताये देते हैं —जो ये विकल्प उत्पन्न हुए हैं इनके अधिकारी कर्म हैं मै तो इनका ज्ञाता द्रष्टा हू ऐसा विचार करते जावो।

२६ जून १९५७

किसी भी अन्यको प्रसन्न, खुश करनेका भाव करना मूर्खता है। किसी भी परको विषय बनाकर इष्ट अनिष्ट विकल्प करना मूर्खता है। और महामूर्खता है इन विभाव और विकल्पो रूप अपनेको समझकर मस्त रहना।

जगतमें अनेक अनेक अर्थ हैं पर तेरे बापका उनमें क्या! तेरे बापका कुछ नहीं, फिर तेरा क्या? तेरा बाप है चित्स्वरूप और तू विकल्प बना रहा अपने बापका कुपूत।

जीवकी कितने प्रकारकी अवस्थाये ससारमे हो रही उन्हे व्यञ्जन पर्याय की अपेक्षा देखो तो हैं १९७५०००००००००००। अर्थपर्यायकी दृष्टिसे जीव की ससारमे अवस्थाये देखो तो हैं अनन्त।

अब कुछ थोडा घूमने चलो और कुछ साक्षात् देखो। देखो ये हैं न कीडे मकोडे, ये लो ये हैं ना कुत्ता बिल्ली गधे, और चलो और देखो ये हैं न बैल घोडे, लो ये साप बिच्छू देखो, अरे मनुष्योमें भी देखलो। तड़पते हुए दूसरोसे सताये हुए, नोचे खाये हुए, मरे हुए देखलो ना। ये हैं कुभावके ठाठ।

मनुष्यभव एक ऐसा भव है कि यहासे अपना काम ससारके दु खोसे छूटनेका बनालो।

ॐ तत् सत्, ॐ शुद्ध चिदस्मि ब्रह्माह तत्त्वमसि।

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ।

हू स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतम राम।

२७ जून १९५७

संकट सहलो परन्तु अन्याय या पाप न विचारो। सकटका दु:ख संकटके काल तक कुछ क्षणोका है किन्तु अन्याय, पापसे होने वाले मनोबलकी

अशक्ति चिरकाल तुम्हें कष्ट देगी।

कोई तुम्हे बुरा कहता है तो उसकी बात सहलो परन्तु तुम उसे या किसीको बुरा न बोलो। तुम तुम्हारा दुःख भेद विज्ञानसे त्वरित मिटा सकते हो किन्तु परको बुरा बोल जानेके कारण आने वाले अन्य संकट अथवा वह दु:खी हो रहा होगा इस ख्यालका संकट टालना कठिन होजायगा।

लो, चला सब झमेला अपने अपने द्रव्यके परिणमनमें। तुम भी आ जावो अपने ही द्रव्यके परिणमनमे।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ शुद्ध चिदस्मि।

निम्नाङ्कित अवसरके अतिरिक्त सन् १९५७ तक २१ घन्टे मौन रहना और तीन घन्टेका प्रोग्राम रखना प्रायः ४५ मिनट प्रवचन, दुपहर ४५ मिनटशका समाधान, रात्रि ४५ मिनट प्रवचन, प्रवचन परान्त १५-१५ मिनट चर्चावार्ता।

अवसर-(१) आहारोपरान्त श्रावकके गृहपर। घन्टा

(२) मध्यान्ह सामायिकसे पहले या बादमें रंगस्थ बन्धुवोंसे चर्चाको ॥ घटा।

(३) गुरु जीके समक्ष।

(४) किसीसें कुछ अध्ययन करते समय।

(५) पक्षमें एक दिन।

(६) रोगादिसे अति त्रस्त मनुष्यको सान्त्वना व सम्बोधनके अर्थ। घटा।

(७) विहारमे कहींसे जाने व कहीं पहुचते समय। घण्टा।

२८ जून १९५७

आज ब० नन्दलालका स्वर्गवास हो गया। ससारमें जन्मके समय और मरणके समयके दु:खकी तुलना करने वाला अन्य दु:ख नहीं ब० जी बाह्यमे तो अचेत रहे किन्तु अनुमान यही रहा कि अन्तरगमें सावधान थे।

ऐसा ही तो सबको मरना है। जब मरना है, अकेले जाना है फिर समागमोंके करनेसें लाभ क्या और परिग्रहके संचयसे लाभ क्या।

प्यारे! अब भी अपनेको असंग अनुभव कर। तू असंग ही है। चाहे

कुछ बने बिगडे पर पदार्थका, उनसे तेरा सम्बन्ध अब भी नही है। तू इष्ट मानता तो अपनी मान्यतासे मानता है। मान्यता तेरी करतूत है किन्तु परका कुछ कर देना तेरी करतूत नही है।

अपनेको सभाल, अपनेको देख, अन्य लोग तुझे क्या कहते, तुझे क्या करते इसकी अत्यन्त उपेक्षा कर।

प्रभो! निज प्रभो! आत्म प्रभो! चैतन्य प्रभो! बसो, मत भगो।

मै शक्ति, चैतन्य और आनन्द रूप ही हू। मेरी शक्ति, मेरा ज्ञान दर्शन, मेरा सुख किसी बाह्य पदार्थसे आना नही है। अत' बाह्य किसी पदार्थ की कुछ मेरी आकाक्षा नहीं। मै परिपूर्ण हू स्वत' सिद्ध हूं कुछ कसर नहीं। स्वयमे स्वयंका स्वयं आहार है।

२६ जून १६५७

धर्मोत्साहमे अनाहार, अनोदर, शुद्धाहार, नीरसाहार, सात्त्विकाहारका निमित्त सम्बन्ध है। आहारमे रुचिकर पदार्थ न लेनेसे अन्य अन्य रूचिया भी कम हो जाती हैं। अहारमें रुचिकर पदार्थ लेनेसे चूकि यहा रुचि बढाई अत' रुचिकी बाढ टूट जाती है और तब अन्य रुचिया भी बढने लगती हैं।

आहार विषयक वान्छायें घटावो। चिदानन्द निज आत्माका सात्त्विक आहार स्वभावावलंकन करके तृप्त रहनेका यत्न करो।

जगतका सर्वसमागम अनित्य है और है भी आखिर वह सब पर। बाह्य अर्थोंसे तुम्हे क्या मिलेगा ?

आज परिणामोमे विशुद्धता सतोषजनक रही। ॐ शुद्धं चिदस्मिको अनेक बार जपो और इसके भावको सम्हाल कर उपयोगमें लावो।

क्या इसमे कुछ सन्देह है कि आत्मका जो परिणमन हो जाता है वह दूसरे क्षण नही रहता है। संदेह तो है नही ना। फिर इसकी पकड क्यों रखो। वर्तमान पर्यायका राग न करो।

द्रव्यमे जब भी हो रहती एक ही पर्याय। भूत तो अतीत हो गए उसका तो सत्त्व है नही। भविष्यकी पर्याय भविष्यमे बनेगी उसका भी अभी सत्त्व नही। इस समय तो केवल वह पर्याय है जिस रूप परिणाम रहे हो।

भविष्यका विधान बनाने वाला विधाता भी वर्तमान पर्याय है। वर्तमान पर्यायको सभालो, सब संभल गया। वर्तमान पर्यायकी संभाल यही है कि अविकार निज स्वभावका प्रत्यय और आलम्बन लो।

३० जून १९५७

स्वभाव भावनाकी प्रसन्नता विलक्षण है। इसकी उपमाके योग्य सर्व विषयोका सुख मिलकर भी नहीं हो सकता है।

ॐ शुद्धं चिदस्मि, ॐ शुद्धं चिदस्मि, ॐ शुद्धं चिदस्मि।

निरपेक्षता धर्म है। निरपेक्ष स्वभाव है, निरपेक्ष महान है। निरपेक्ष पूज्य है, निरपक्ष आदर्श है, निरपेक्ष अनुकरणीय है। निरपेक्षतामे सहज आनन्द है। निरपेक्षता ही सम्वर निर्जराका मुख्य हेतु है। निरपेक्षता ही योगियोका मर्म है। निरपेक्षतामें निष्काम कर्म हो सकता है। निरपेक्षता संसार व्याधिकी परम औषधि है। निरपेक्षता सम्यक्त्वकी अविनाभाविनी है। निरपेक्षका नाम साधु है। निरपेक्षका नाम त्यागी है। परम निरपेक्ष परमात्मा है। निरपेक्षता ही सत्य है। निरपेक्षता मोक्ष मार्ग है।

निरपेक्ष तो मैं स्वभावसे ही हू। सापेक्षता तो विकारमें बन गई है। मैं स्वयं सिद्ध अखण्ड तत्त्व हू। स्वयं उत्पादव्ययशक्ति सम्पन्न हू। मैं परिणमता हू स्वय। सापेक्षमान्यतामे भी निरपेक्ष होकर परिणमता हू। निरपेक्ष भावनायें भी निरपेक्ष परिणमता हू। सापेक्षमान्यतामें परिणमन आकुलतामय होना पडता है। निरपेक्ष भावनामे परिणमन अनाकुल होना पडता है।

क्या इष्ट है क्या करना है जल्दी निर्णय करलो।

१ जुलाई १९५७

बन्धुवर! मेरे प्रतिज्ञा रूपसे की हुई दशम प्रतिमामे आहारके अर्थ अनेक बन्धुवोके विवाद हो जानेके कारण मैंने अभ्यास रूप क्षुल्लकव्रत कहकर भिक्षुकवृत्तिका संकल्प किया था। मन्त्र विधान व दीक्षाविधिसें क्षुल्लक-व्रत नही लिया। अत. मुझे क्षुल्लक न लिखा जाय। मैं अब भी इसके अभ्यासमें हू, यदि उचित हो तो क्षुल्लक व्रताभ्यासी लिखा जा सकता है।

धर्म प्रेमी अनेक बन्धु मुझे कहते हैं कि आपको हम क्षुल्लक ही क्या

इससे भी बडे रूपमे देखते हैं, यह सब धर्म प्रेमी उन बन्धुवोंकी दृष्टि है। वैसे तो पहिली प्रतिभा ही इतने निर्मल भावकी स्थिति है कि दार्शनिक श्रावक को निराकुल और कृतकृत्यकी श्रद्धासे उत्पन्न आनन्दसे आनन्दित रहना चाहिये।

मैं अपनेको वहासे बहुत दूर पाता हू जहा जाना है। सत्य अपनेमे अनादिसे है उसका अवलम्बन करना शेष है। मनुष्य भवकी उपयोगिता इसीमे है कि आत्म स्वरूप निरख लिया जावे और उसका अवलम्बन किया जावे।

आत्मा भी द्रव्य है इस कारण निरन्तर परिणमनशील है। परिणमन योग्यतानुकूल निमित्त पाकर होता रहता है। जहा कालातिरिक्त कोई सद्भाव-रूप निमित्त नही होता वहा स्वभाव परिणमन होता है।

सत्य शिव सुन्दरम्।

२ जुलाई १९५७

हम सब एक एक चेतन पदार्थ हैं। इसका कार्य अनादिसे परिणमन करते चले जाना चला आया है व चला जायगा। वर्तमान पर्याय भी इसी आदतका एक रूपक है। यह भी कुछ ही क्षणो बाद विनष्ट हो जावेगा।

ससार सागर अथाह है। इसके बाद क्या हालत होगी इसका निर्णय सबकी अपनी अपनी करनी ही देती है।

दुनियामे देखो सैकडो आये चले गये, सब अपनी करामात दिखाये चले गये। इसी प्रवाहकी एक धारा हम सब हैं।

कर्तव्य अब यह है कि प्राप्त समागममे हर्ष न करो और न प्राप्त समागमका गर्व हो जाने दें।

हम सबका असली रूप वह विशुद्ध है जिसका योगिजन ध्यान करते हैं। आत्म स्वरूपका जानना सबसे बडा भारी पुरुषार्थ और वैभव है।

सर्वस्व न्याछावर करके भी यदि आत्म प्रतीति बन जाय, बनी रहे तो वह अनुपम लाभ है। एतदर्थ जो बन सके कर डालना चाहिए।

धर्मके लिये ही जीवन है। धर्म सरलतामें है, धर्म कषायके त्यागमे है, धर्म सम्यग्दर्शनमे है। ॐ शुद्धं चिदस्मि।

३ जुलाई १९५७

आज मध्याह्निक सामायिकमें ध्यान निर्मल रहा। निष्पाप, निश्छल जीवन शान्तिका कारण बनता है। पाप मनकृत अधिक होते हैं। ज्ञान द्वारा अपनेको समझावो व्यर्थका पाप भार न ढोवो।

कोई पुरुष बुरा है, उसकी बुराई पर दृष्टि क्यो गई, बुराई पर दृष्टि जानेसे यह रागी उपयोग बुरा हो गया, लो तुम बुरे बन गये। ज्ञेय जाननेमें भगवानकी होड न लगा। वे तो वीतराग हैं तू सराग है। (१) पहिली बात तो यह मान कि किसीकी बुराई पर दृष्टि न हो।

कोई किसीकी निन्दा करता है उसके सुनने पर उपयोग जानेमें भी खुद की बुराई हो ही गई। और फिर यह बता कि दूसरेकी निन्दा सुननेसे तुझे मिल क्या जायगा, हानि तो बहुतसी साक्षात् है। (२) दूसरी बात यह मान कि किसीकी निन्दा सुननेका उपयोग न कर।

४ जुलाई १९५७

आत्मा एक द्रव्य है द्रव्य है इस नाते वह परिणमनशील है। जो परिणमनशील नहीं वह है हो नहीं। यह आत्मा अनादि से परिणमता चला आया है। वर्तमानमें ऐसी स्थिति है। इसे पूरा करके आगे बढना है। प्राप्त समागम अपना कुछ नहीं है।

यहाका सम्मान, अपमान अपना सन्मान, अपमान नहीं है।

अपने स्वरूपको भूल जाना और विषयकषाय, आरम्भ, परिग्रहमे लग जाना अपना अपमान है और विकल्पोंको तोडकर स्वाभिमुख होना अपना सन्मान है।

यहा कुछ भी हो इससे आत्माको कुछ बिगडता नही है। परिणामोकी निर्मलता बढे यही अपना उत्थान है, बडप्पन है, सुख शान्ति है व आगे सुखी बने रहनेका यही मात्र एक उपाय है।

५ जुलाई १९५७

अपना लाभ देखो, विषयकषायके उपयोगमें पतन ही है। विषयकषाय से अलग होओ। विषयकषाय रागवश होते हैं सो राग मेटनेका साक्षात् कारण

शुद्धज्ञानोपयोग है। यदि राग नही मिट पाता सताता ही है तो प्यारे! राग की दिशा बदल दे। जैसा तू बनना चाहता है शुद्ध त्रिकासमय वैसे जो बन चुके है उनके स्वरूपका ध्यान कर उनकी पूजा, उपासना कर इस दिशामे बढनेका जो प्रयत्न कर रहे है उनकी सगति, सेवा, प्रीति कर। शुद्ध विकास का जो यत्न बताते हैं ऐसे शास्त्रोका अभ्यास, मनन कर।

देव—विषयकषायही तेरे महान् शत्रु हैं। यहाका दृश्य समागम तो मिट जावेगा। जिनके आश्रय अशुभोपयोग बना रहे हो वे पदार्थ भिन्न है और स्वयं उत्पादन व्यय वाले है।

किसी भी दशामे न कोई टिक सका और न कोई टिक सकेगा।

प्यारे! अपने परिणमन पर भी विश्वास न कर। यह भी मिटने वाली चीज है। कही ऐसा खट्टा न खा जाना कि मिटने वाला तो मिट कर रहेगा ही और तुम मिटने वाले की प्रीति करके चिरकालको दु खका बीज बोलो।

आज उपवासका काल सधर्मध्यान व्यतीत हो रहा है। मौन व्रतसे मुझे निज लाभ मिलनेकी पूरी आशा है। विकल्प और दुर्भाव आते हैं उनको यहा ठहरनेको विशेष समय नहीं मिल पाता, यह भी मौनका प्रभाव मैं देख रहा हू। ॐ शुद्धं चिदस्मि।

६ जुलाई १९५७

आत्मा पर बडी विपदा छाई है। यह दुःखको सुख मानता है- यह है इसकी मूढता है। यह समागम क्या साथ देगा, शरण होगा इसका ध्यान न रखकर इसकी तृष्णामे बसा है मोही।

आत्मा चेतन द्रव्य है, स्वय परिपूर्ण है। दु'खी भी होता तो स्वयं पूरा होकर भी अधूरेकी मान्यतामे परसे सुखके भ्रमसे दुखी हो रहा है।

आत्मा सुखी स्वय है। विषयभूत पदार्थोसे सुख नहीं होता। आत्मा आनन्दमय है और स्वयं आनन्दमय। यह प्रति समय आनन्दकी बढवारीके लिये तैयार रहता है इसी कारण इसका नाम ब्रह्म है। आनन्दके लिये तैयार रहता, स्वगं यत्न होता किन्तु अज्ञानवश बाह्य पदार्थका आश्रय मान्यतामे कर लेनेसे आनन्दकी कमी हो जाती है उस कम आनन्दका नाम मोही लोगोने सुख रख रखा है।

यह सुख भी बाह्य पदार्थसे नहीं आया। बाह्य बाह्य है उसमे आनन्द भी नहीं। आनन्द आनन्द गुणकी पर्याय भी है। आत्मासे आनन्द होता है। एक बार कमर कसके मोक्ष मार्गमें तो चल। बार बारको भर्म वृत्तिकी इस बाह्य व्यवहार यत्नकी झझट मिट जावेगी।

मै सबसे जुदा, चैतन्यमात्र हू इस स्वभावको ओर अपनी वर्तमान ज्ञानपर्यायको लगाकर द्रव्य, गुण पर्यायमें एक रूप हो जा। इसीके अर्थ योगियोका तप है।

७ जुलाई १९५७

समग्रता, कार्यकी जननी है। उसमें एक तत्त्व तो उपादान होता है और शेष सब निमित्त कारण होते हैं।

उपयोगके अन्यत्र जानेसे क्या लाभ। हानि ही परोपयोगमे सब कुछ है।

सारा ससार भी प्रतिकूल प्रवर्तो उससे मेरी रच भी हानि नहीं है। मै ही स्वास्थ्यभावसे भ्रष्ट होकर अपना बिगाड करूं तो करू। सारा ससार भी अनुकूज प्रवर्तो उससे मेरा रच भी लाभ नहीं है। मैं ही परभावसें पृथक् होकर स्वास्थ्य भावमें बसू और अपना सुधार करू तो करू।

हे सर्व जीवो तुम सब प्रतिकूल चलो तो चलकर अपना ही तुम काम कर रहे हो। तुम्हे क्या करना चाहिये यह प्रश्न तुमसे सम्बन्धित है तुम जानो। किन्तु तुम सबकी चेष्टासे मेरा कुछ परिणमन नही होता।

हे सर्व जीवो तुम सब प्रशसा करके यश बढावो तो यह क्रिया भी कर कर अपना ही तुम काम कर रहो उसमें लाभ व हानि दोनों तुम्हारी हैं। तुम्हे क्या करना चाहिये यह प्रशन तुमसे सम्बन्धित है, तुम जाने। किन्तु तुम सबकी चेष्टासे मेरा कुछ परिणमन नहीं होता।

नित्य निरञ्जन निराबाध चिद्ब्रह्म आदि अनन्त अन्त' सदा प्रकाशमान है, उसकी शरण ही मेरा शरण है। इसीको लक्ष्य करके कथन वेदान्त में है, जैन सिद्धान्तमें है, अन्यत्र भी है। सर्व ओरसे इसे समझनेके लिये जैन सिद्धान्तने मुझे बल दिया और नि सदिग्ध चिद्ब्रह्म को समझा। अन

इसहीमे मेरा सर्वस्व लाभ है।

८ जुलाई १९५७

मेरा अन्तरात्मा बहुत प्रसन्न चल रहा है। निजस्वरूपका भान और उसमे स्थिरताका यत्न होना इससे बढकर तीन लोकमे वैभव नहीं। निज स्वरूपका परिचय और लक्ष्य हो जावे इतनी बात हो गई तो मनुष्य जन्म सफल है। समागम, वैभवसे आत्माको कुछ नही मिलना। आत्माके पास ही वह चीज है जिसके मिलने पर पूर्ण तृप्ति हो जाती है।

मैं आत्मा ज्ञान मात्र हू, शरीरसे जुदा हू, रागसे जुदा हू इस प्रतीति पूर्वक शरीर परसे राग छोड देना। शरीरको पडोसी जानकर भोजन देना किन्तु उससे जुदा ही अपनी प्रतीति करना।

सत्य मेरा मेरे लिये चैतन्य स्वभाव है। चैतन्य स्वभावका लक्ष्य सदा रहो। यह ज्ञान जब निज अविकार चैतन्य स्वभावका ज्ञान करता है यह ज्ञान आनन्दको प्रगट करता हुआ विकसित होता है।

चैतन्यस्वभाव सो निश्चय धर्म, चैतन्य स्वभावका अवलम्बन सो व्यवहार धर्म, चैतन्य स्वभावके अवलम्बनके ध्येयसे की गई भक्ति, पूजा, सत्सग आदि सो उपचार धर्म है।

सिद्ध प्रभुका अनन्त स्वभावविलास है। उनकी अनुपम स्थितिका वह स्थिति है जो चैतन्य स्वभावको आश्रय होने पर क्रम क्रमसे बढकर स्वय हो जाती है। सिद्ध प्रभो जयवंत होओ, अरहन्त प्रभो जयवन्त होओ। इसका अर्थ है कि अरहन्त सिद्धकी भक्तिरूप मेरा परिणाम जब तक निर्विकल्प न होऊं बना रहे।

९ जुलाई १९५७

कल रात्रि करीब १० बजे चैतन्यस्वभावके आश्रयके लिये बहुत उमग बढी और इससे जगतके सब कार्य, धर्म प्रचार, साहित्य संग्रह आदि तुच्छ जान पडे। इस परिणमसे जो आनन्द आया उसके कारण रात नींद न आई और मेरी भी यही इच्छा रही कि नींद न आवे। मैं एक समय भी स्वभाव लक्ष्यसे न गिरू, परको ओर उपयोग तनिक भी न जावे। तत्त्व विज्ञानके विकल्प भी मत होओ, रागादिभावकी ओर भी उपयोग न जावे,

पर पदार्थकी ओरकी तो बात ही क्या करना वह तो अत्यन्त भिन्न वस्तु है। जितनी दो स्वभावकी ओर उपयोग झुक रहा वह तो मेरा ज्ञान है बाकी उपयोग अज्ञान है । जो ज्ञान स्वभावकी ओर प्रवेश कर रहा है वह ज्ञान तो चेतन है बाकी ज्ञान अचेतन है इत्यादि विकल्पोमे समय गया ।

करीब १ बजे रातसें नींद आई होगी। नींद गहरी आई। ४। बजे प्रात. कुछ विकल्पो सहित नींद खुली, उन विकल्पोकी अब याद नहीं है क्या थे ।

श्री विनयकुमारजी पथिककी आन्तरिक निर्मलता जानकर मुझे उनके प्रति अधिक स्नेह जगा, इच्छा तो हुई कि इन्हें बुलाकर ५ ७ मिनट पास बैठालूं किन्तु रात्रिके तब ११ बजे होगे। मेरे मौन था और वह भी अपनी कथा व भजनोपदेश कहकर थक गये होगे उन्हे भी आराम करना चाहिये इस भावमें न बुलाया ।

विनयकुमारजी ब्राह्मण हैं और जैनधर्मके प्रति अटूट श्रद्धा है। किसी से द्वेष या मात्सर्य न करना इनका आदर्श गुण है । मेरी कामना है कि इन्हे अपने निर्विकल्प स्वभावके परिचयका अनुपम आनन्द प्राप्त हो ।

१० जुलाई १९५७

आज उपहास किया, परिणामोकी निर्मलताका एक साधन प्रवचन भी है। अध्यात्मविषयक बात भी प्रवचन योग्य तभी निकल पाती जब अपने आपमे कुछ निरखते परखते हुए बोला जावे। ऐसा उसमें खुदको महान्बल मिलता ।

बिल्कुल मौन रखा जाय और आधा पौन घण्टा प्रवचन भी न किया जावे तो परिणामोकी निर्मलताकी वृद्धिमे एकअन्तराय हो सकता है। अत. प्रतिदिन १ प्रवचन पौन घटेका कर ही देना चाहिये ।

मै अपने लिये ज्यादहसे ज्यादह मौन रख सकता हू तो २१ घटे। तीन घन्टे बोलना इस प्रकार रखा जा सकता है—

अत ।।। घन्टा प्रवचन, पश्चात् ।। घन्टा पाठन, १। घण्टा
यदि आहार करू तो आहारके पश्चात् । घटा बोलना । घण्टा
यदि साथियोंके प्रोग्रामके लिये कुछ कहना हो तो । घंटा बोलना, । घंटा

किसीने विशेष समय मागा हो तो उनसे बोलनेको ॥ घंटा रखना, ॥ घटा
शङ्का समाधानके अर्थ, ||| घण्टा बोलना— ||| घण्टा

———

३ घण्टा

इस मौन व्रतसे लाभ रहा और लाभ होगा ऐसी आशा भी है।

आज उपवास तो सानन्द बीत रहा है किन्तु परिणामोमे निर्मलताका भङ्ग हुआ। मनुष्य कल्याणार्थ बाह्य परिकरसें अत्यन्त दूर रहे। जो यह सोचले कि मै तो दुनिया की दृष्टिमे मरा हुआ ही हू। यश, बडप्पन सब नष्ट होओ, कोई पूछने वाला भी न रहे। तो अपना अन्तः करम आगे सुरम बना सकता है।

११ जुलाई १९५७

निज ध्रुव स्वभावका लक्ष्य, आश्रय बना रहे इससे बढ़कर लोकमें न अन्य सुख है और न वैभव है।

हम अपने ज्ञानसे स्वका चेतन करें तो परमार्थसें वह ज्ञान चेतन है। परको या विकल्पको चेतने वाला ज्ञान परमार्थसे चेतन नही। जैसें आनन्द गुणके आनन्दके परिणमनकी अवस्था जगे तो वह आनन्द है, इष्ट अनिष्ठ विकल्प रूप से सुख और दु'ख रूप परिणमे तो वह आनन्द नही।

रे प्यारे! तू चेतन बना रह, अचेत न होओ, अचेतन मत बन, जड मत बन।

अहो मैं किसी पर्याय रूपात्मक नही यह तो अभी नष्ट होती है, कोई पर्याय दूसरे क्षण भी तो परमार्थसे टिकती नही। मै यह सब कुछ नही। मै ज्ञानमात्र अपनेको अनुभव करू उस समय जो सम्पूर्ण प्रदेशोमे परम निराकुलता रूप अनुभव जो होता है उसे मैं विकल्पमे उठाऊं तो पीछे कह सकता हू कि मै कौन हू। सदा रहने वाला सब पर्यायोमेसें गुजरता हुआ एक ज्ञायक स्वभाव हू। यद्यपि मै पर्याय शून्य कभी नहीं रहूगा किन्तु पर्यायो का तो व्यय होता रहता है। मै किसी पर्याय रूप नही।

ॐ शुद्ध चिदस्मि, ॐ ॐ ॐ।

अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि।

१२ जुलाई १९५७

एक एक करके सर्व द्रव्य स्वतन्त्र हैं। प्रत्येककी सत्ता स्वय और परिपूर्ण है। कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यकी कृपासें नहीं है ।

मै सर्व अन्य द्रव्योसें भिन्न हू। मकानसें, धनसे, परिवारसे तो प्रकट जुदा हू। शरीरसे भी जुदा हू। आत्मामे जो रागादि है उससे जुदा हू। किसी भी पदार्थके बारेमे जो विचार उठता है उस विचारसे भी जुदा हू। किसी भी अन्य तत्वो पर जो ध्यान जमता है उससें भी जुदा हू। अपने आत्मामे जो अन्य अनेक गुण हैं उसपर उपयोग लगाता हू तो उस उपयोग से भी मै जुदा हू।

केवल निज चतन्य सामान्य स्वभावके ही ज्ञानमें उपयोग लगाता हू तो वह ज्ञान पर्याय सामान्य निविकल्प चैतन्यमे समानेके कारण निर्विकल्प ज्ञानोपयोग हो जाता है। वह ज्ञान चेतन है और उसका जो विषय है वह मैं हू।

ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ
ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ } ॐ तत्सत्

मैं यह ॐ द्वारा वाक्य, तत् रूपमें ध्येय, सत् रूप ॐ तत्सत् हू।

आत्मन्! इतना धैर्य प्राप्त करो कि जगत किसी रूप परिणमे, कोई प्रतिकूल चले अथवा अनुकूल चले, कुछ भी किसीकी चेष्टा हो उस सबको पर समझकर उसपर लक्ष्य न रहे, ज्ञान भी जाय तो ज्ञाता दृष्टा रहकर क्षोभ से परे हो जाओ।

१३ जुलाई १९५७

आज राजपुर(देहरादून) मे वर्षायोग प्रतिक्रमण किया। राजपुरसें ८ मील चारों ओरका क्षेत्र सीमाबद्ध किया, केवल पूज्य श्री बडे वर्णी जीका यदि समाधिकालकी शल्यसे हो या सूचना मिले तो वहा याकोहरमा जानेकी छूट रखी। ध्यानयोग बढानेके लिये यह स्थान विशेष अच्छा रहेगा। राजते स्वय स्वस्मिन् इति राजा। राज पुरम् इति राजपुरम्। जो स्वय स्वयंमें शोभायमान हो, विराजमान हो, स्थित हो वह है राजा।

एकान्तका बड़ा महत्व है किन्तु इसके योग्य बनानेको विशिष्ट ज्ञान-

बल होना चाहिये।

कोई नहीं जानता इस अभिप्रायसे किया गया पाप विशिष्ट पाप बनता है। फिर यह सोचना तो गलत ही है कि कोई नहीं जानता। अनन्त सिद्ध तो जानते ही हैं। रे मूढ़ साधारण लोग जानेंगे उसका तो तुझे खौफ हो और अनन्त प्रभु जाने उसका कुछ खौफ न हो तो ये तेरी अतिधृष्टता है।

पापका अर्थ बुरा नहीं किन्तु अपेक्षा अन्यकी हो जानेसे बुरा अर्थ हो गया है।

पाप कहते हैं पाति रक्षति आत्मनं शुभात् इयात् इति पुपापम्। जो शुभ से बचावे पुण्यसे बचावे उसे कहते हैं पाप। वह कार्य जो कल्याणसे दूर करे उसे भी पाप कहते हैं। इस अर्थसे लोकमें जिसे पुण्य कहते हैं वह भी पाप हो जाता है।

१४ जुलाई १९५७

यहां का स्थान शान्तिका वातावरण है। मौनव्रत अनेक संयमोंका साधन है, मौनव्रत भी एक संयम है। मौनमें यह इच्छा भी न हो कि ये हमारा यह अभिप्राय समझकर यह काम कर दें और न कोई संकेत हो तो मौनका फल मिलता है।

वास्तवमें मौनका अर्थ तो है मुनि संयम। मुनेर्भावः मौनम्। मुनिके मुनित्वको मौन कहते हैं। किन्तु मुनिके मुनित्वमें लोगोंको वचन न बोलना सुगमतया प्रतीत हुआ अतः मौनका अर्थ है रूढ़ हुआ मुंह न बोलना और मुंह न बोलनेके अतिचार माने जाने लगे संकेत करना आदि।

मौनका अर्थ ज्ञानोपयोग है मुनेरिदं मौनं मुनिका यह ज्ञान मौन कहलाता है। मुनि शब्द भी मनु अवबोधने धातुसे बना है जिससे मुनिका अर्थ होता है ज्ञानी। तब मौनका अर्थ होता है ज्ञानीका ज्ञान। ज्ञानीका ज्ञान यह है कि ज्ञानीके निज त्रिकाली ज्ञान सामान्य स्वभावकी ओर ढला हुआ उपयोग। इस अर्थकी अपेक्षा यह ठीक है कि मौन बिना संसार सागर पार नहीं किया जा सकता। विकल्पके विकल्पोंका जनक निमित्त रूपसे बाह्य समागम है। अतः समागम छोड़कर यदि एकान्तमें जाकर निज चैतन्य प्रभुकी उपासनामें उपयोगको लगाया जावे तो इस आत्माका उद्धारके लिये

सहारा ही सत्य सहारा है। तेरी उपासना ही मेरे सहज आनन्दका उपाय है।

स्वाध्याय इस ही के अर्थ किया जाता अर्थात् स्वाध्याय सत्य शान्तिके अर्थ किया जाय याने स्वाध्याय सर्व दुःखोंसे मुक्ति पानेके लिये किया जाता है।

किन ग्रन्थोका स्वाध्याय करना चाहिए? यदि समय हो तो जो भी ग्रन्थ तुम्हें दिखे सबका स्वाध्याय कर लो। किसी भी मतका कोई ग्रन्थ न छोडो। निष्पक्षतासे सबका मनन कर लो। तुम स्वयं जान लोगे कि किस स्वाध्यायसे हम अपनी शान्ति पा सकते हैं।

तुम ज्ञानमय हो ज्ञान ही तुम्हारा शरीर है, अपने स्वभावके रुचिया बनो उसकी ओर उन्मुख होओ, क्या होगा उसका तुम्हे क्या करना। जानना ही है तो देखो बताये। इससे पहिले एक बात बतादे, जाननेकी जो इच्छा है वह स्वभावके उन्मुख नहीं होने देगी। अब सुन लो और फिर भूल जावो, जानोगे तुम बिना रुकावटके सब कुछ।

तुम आनन्दमय हो, अपने आनन्द स्वभावकी ओर ढलो। आनन्द तो तुम्हारे लिये तैयार ही बैठा है। तुम उसकी ओर देखते नहीं हो और आनन्दको ठुकराते हो।

ॐ सच्चिदानन्दाय नमः, ॐ तत्सत्, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, ॐ शुद्धं चिदस्मि।

१७ जुलाई १९५७

सत्य सत्य ही रहता। असत्यको सत्य मानना और सत्यको असत्य मानना ये मोहियोकी कल्पनामात्र है।

मूर्ख, आलसी, दुराचारी, कृतघ्न, ईर्ष्यालु व निन्दनशील पुरुषोका समागम दुःखकारी होता है।

श्रीमज्जिनन्ददेवकी आज्ञा है कि कषाय भाव न आने दो। सबसे बड़ी विपत्ति कषाय भावोका आना है। जगतके अन्य पदार्थ किसी भाति परिणमे वह विपत्ति नही है, उससे तुम्हारा क्या परिणमन होता। कषायें तो तत्काल ही तुम्हें संक्लेश, विकल्प आदिके कुफल दे चले जाते और आगेकी कषायो को निमन्त्रण दे जाते।

यदि कषायको साक्षात् नही जीत सकते तो भेद विज्ञानका शरण लो किन्तु कषायकी छायामें कभी शरण न मानना। कषायसे भयकर अन्य विपत्ति नहीं।

भेदविज्ञानके शरणका सरल उपाय यह है—कि देखो, आत्माके अनेक गुणोमे ज्ञान और चारित्र भी गुण हैं। कषायें चारित्रगुणका विकार है, उन्हे ज्ञान स्वीकार कर लेता है तो आपत्ति होती है। ज्ञानगुण स्वतन्त्र है, कषायके परिणमनसे उपयोग नहीं परिणमता, उपयोगके परिणमनसे कषाय नहीं परिणमती। कषाय चारित्रगुणकी पर्याय है, उपयोग ज्ञानगुणकी पर्याय है। चारित्र गुणका जो परिणमन होता है होने दो, तुम ज्ञानगुणका यथार्थ उपयोग करो। कषायें होती हैं उनके ज्ञाता द्रष्टा हो जाओ।

ये कषाये कर्मोदयके विपाकवश उत्पन्न हुई हैं, मेरे स्वभाव नहीं है। यह तो मै टङ्कोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायक स्वभावमय हू।

१८ जुलाई १९५७

इन्द्रिय विषय विपत्तिका मूल है। है तो स्वय विपत्ति किन्तु मोहमे उस समय मोहीका विपत्ति नही मालूम होतो किन्तु उत्तरकालमें वा वह कह उठता है कि इन्द्रिय विषय सेवनसे मेरी यह विपत्ति हुई है।

सर्व विषयोमे भयकर विषय स्पर्शन इन्द्रियका है। स्पर्शन इन्द्रियके विषयोमे भी भयकर विषय उपस्थका है याने मैथुन विषय सर्व विषयोमे भयकर विषय है। इस विषयके सेवनसे शरीर, वचन और मन तीनोकी बरबादी होती है, जो होता है उस सर्वस्वकी बरबादो हो जाती है, लौकिक सुख खाने, पीने, निरोग रहनेके नष्ट हो जाते हैं। लोकप्रतिष्ठा, इज्जत, यश, कीर्ति, कान्ति, प्रताप भी नष्ट हो जाते हैं।

जिस मनुष्यको अपना कल्याण करना है उसे ब्रह्मचर्यव्रत पूरा पालन करना चाहिये। यदि ब्रह्मचर्यव्रत मनसे सध गया तब तो त्याग है, सन्यास है, साधुता है, मोक्ष मार्ग है। यदि ब्रह्मचर्यकी सिद्धि नहीं है तब तो गृहत्याग, तप, उपवास, व्रत, विद्वत्ता, वक्तृत्व आदि सब व्यर्थ हैं।

१९ जुलाई १९५७

आनन्दके लिये जीवको प्रयास नही करना है, क्योंकि जीव आनन्दमय

तो स्वय ही है। केवल यथार्थ बात जान लेनी है ताकि दुःखमे सुखकी भ्रान्ति मिट जावे। यह उपाय ज्ञान व ध्यान द्वारा साध्य है। शरीरकी क्रियाका फल तो शरीरमे तत्काल होता है और चेतनकी क्रियाका फल चेतनमे तत्काल होता है।

जिस वस्तुमे क्रिया होती है उस क्रियाका फल उस वस्तुमें उस रूपसे परिणम जाता है वह उसी समय हो जाता है। आत्माके जो जब उपयोग होता है उसका फल उस आत्मामे उस प्रकारकी जानकारी हो जाना और उस योग्यताके अनुकूल सुख दुःखका संवेदन हो जाना है वह उसी समय हो जाता है।

आजके भावको निमित्तमात्र करके बन्धको प्राप्त हुए देवायु देवगति आदि प्रकृत्तियोका भविष्यमे जो उदय आवेगा उस भविष्यकालमे जो भाव होगा वह आजकी क्रियाका फल नही है। वह तो जिस समय होगा उस ही समयके उपयोगका फल है। उस कालमे कर्मोदयको निमित्तमात्र पाकर उस कालकी योग्यताके अनुकूल नवीन भावका आविर्भाव होगा।

चूंकि उस नवीन भावका निमित्त है उस कालका कर्मोदय। और, वह कर्म जो कि उदयमे आया है वह बहुत समय पहिलेसे सत्त्वमे है। कर्मों का सत्त्व बन्धके बिना नहीं होता है उस कर्मका बन्ध आजके भावको निमित्त पाकर हुआ है। इस निमित्त परम्पराके सम्बन्धकी दृष्टि कर ऐसा लोक व्यवहार हो गया है कि आज किये तप व्रतका फल आगे स्वर्गमे मिलेगा।

ॐ सत्त्वहितङ्कराय सत्स्वरूपाय स्वस्ति।

७० जुलाई १९४७

उपाधिवश जैसा स्फटिक या सुवर्ण नानारूप परिणमता है, तैसे कर्म उपाधिवश आत्मा नाना रूप परिणमता है, जैसे उपाधिवश हुई सुवर्णकी नाना अवस्थावोमे शुद्ध स्वर्णके पारखी अशुद्ध सोनाको सोना शब्दसे न कहकर चादी है, ताबा है, मिट्टी है, पत्थर है आदि शब्दसे व्यवहार करते हैं, वैसे उपाधिवश हुई आत्माकी, भावमन (मन) अहङ्कार, बुद्धि आदि नाना अवस्थावोमे शुद्ध आत्माके पारखी उस विकृत आत्माको आत्मा शब्दसे न कह

कर जीव, प्राणी, जन्तु, मन, बुद्धि आदि शब्दोसे व्यवहार करते हैं।

जैसे अशुद्ध स्वर्णमें भी स्वर्णका जैसा स्वरूप है उस स्वरूप दृष्टिसे वह शुद्ध स्वर्ण अब भी है, वैसे अशुद्ध आत्मामें भी आत्माका जैसा सहज स्वरूप है उस स्वरूप दृष्टिसे वह शुद्ध आत्मतत्त्व अब भी है।

जैसे विवक्षावश शुद्ध स्वर्णत्वको सुवर्ण कहकर उसे अशुद्ध नही कहा जा सकता वैसे अधिप्रायवश शुद्ध आत्मतत्त्वको आत्मा कहकर आत्माको अशुद्ध नहीं कहा जा सकता है।

जैसे शुद्ध स्वर्णत्वसे अशुद्धस्वर्णत्वकी भेदविवक्षा करके यह कहा जाता है कि सुवर्णपाषाण आदि ही तप्त किये जाते हैं सुवर्ण नहीं, वैसे आत्मद्रव्यसे अशुद्ध आत्माकी भेद विवक्षा करके यह कहा जाता है कि जीव, मन आदि ही दुःखी होते हैं, आत्मा दुःखी नहीं होता है।

२१ जुलाई १९५८

मनको बुद्धिमे लीन करो, बुद्धिको आत्मामें लीन करो, आत्माको परमात्मामे लीन करो। यह बात उत्तम है। किन्तु इस पर यह विचारना है कि मन, बुद्धि, आत्मा व परमात्मा ये अलग अलग चार चीज हैं अथवा एक चीजकी ये चार लीलायें हैं।

यदि उक्त चार बिलकुल अलग अलग चीज हैं तो इनमेसे कोई भी किसी अन्यमे लीन नहीं हो सकता है। क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें लीन नहीं हो सकता। कदाचित् दो द्रव्य समान अवस्थाके कारण पथक पहिचान मे न आवें तब भी वे अलग अलग ही हैं चाहे क्षेत्रावगाह भी क्यो न हो जावे। यह वैज्ञानिक नियम भी है अतः ये चार सवर्था स्वतन्त्र एक एक वस्तु नहीं हैं।

यदि उक्त चार चीज एक द्रव्यकी लीलायें हैं तो वह एक कौन है व लीलायें कैसे होती हैं? वह एक वस्तु चेतन है जिसे आत्मा कहते हैं। उक्त चार चीजोमें जो आत्मा शब्द आया है उस आत्मासे मतलब निर्विकल्प समाधिस्थ आत्मासे है।

तब उक्त चारो की परस्पर लीनताका शुद्ध तात्पर्य यह हुआ कि क्षोभको

विवेकमे लीन करो विवेकको योगमें लीन करो और योगको सर्वज्ञत्वमे लीन करो।

कर्म उपाधिके निमित्तसे आत्माकी मन (भावमन) रूप अवस्था होती है। कर्म उपाधिकी शिथिलता होनेसे आत्माकी बुद्धिरूप अवस्था होती है। कर्म उपाधिके अत्यन्त शिथिल होनेसे योग (समाधि) रूप अवस्था होती है। कर्म उपाधिके नष्ट होनेसे सर्वज्ञत्वकी अवस्था होती है।

२२ जुलाई १९५७

द्रव्यमे नवीन अवस्था होने पर पूर्व अवस्था उसही द्रव्यमे लीन हो जाती है क्योकि पूर्व अवस्था द्रव्यसे बाहर कही जाती तो है नही और उस द्रव्यमे भी विकसित है नहीं अत. वह द्रव्यमे लीन कही जाती जिसका सीधा अर्थ यह भी कह सकते हैं पूर्व अवस्था तो रूप परिणमा हुआ द्रव्य अब इस नवीन अवस्था रूपसे परिणम गया है।

इसी न्यायके अनुसार भावमन याने मन अथवा क्षोभरूप परिणमा हुआ आत्मा ज्ञान बल से बुद्धि याने विवेक रूप परिणम जाता है और विवेक, बुद्धि रूप परिणमा हुआ आत्मज्ञान बलसे योग रूप अर्थात् निर्विकल्प समाधि रूप परिणम जाता है व अन्तमे निर्विकल्प समाधिरूप परिणमा हुआ आत्मा परमात्मारूप परिणम जाता है।

उक्त उन्नतिके अर्थ पुरुषार्थ एक ही किस्मका है —वह है निज चैतन्य स्वभावका आश्रय। यह आश्रय आरम्भ अर्जन व फलरूपमे तीन प्रकारका होता है (१) चैतन्यस्वभावकी रुचि, (२) चैतन्यस्वभावका उपयोग (३) चैतन्य स्वभावके अनुकूल परिणमन।

चैतन्यस्वभावको रुचिके अर्थ चैतन्य स्वभावमय आत्मा व इसके समागममे लगे हुए शरीर, कर्म एव औपाधिक प्रभाव रूप रागद्वेपादिक इनका स्वरूप और अन्तर जानना होगा। इस स्वरूप और अन्तरको समझने हुए ही किसी समय चैतन्य स्वभावमय आत्माका स्वरूप ज्ञानमे प्रकट भास जाता है उसी समय चैतन्य स्वभावका निःशङ्क विश्वास और सत्यरुचि प्रकट हो जाती है।

इसके पश्चात् चैतन्यस्वभावका ही उपयोग बनाये रहनेमे यह महात्मा

निरंतर उद्युक्त रहता है। कदाचित् अन्य विषयमें उपयोग चला जाय तब भी चैतन्य स्वभावकी प्रतीति और ज्ञानसे च्युत नही होता जिससे वह यथा शीघ्र चैतन्य स्वभावका उपयोग (ज्ञानवृत्ति) करने लगता है।

२३ जुलाई १९५७

चैतन्यस्वभावके निरन्तर उपयोगसे चेतन निर्विकल्प समाधिकी ओर जाता है तथा बार बारके इस पुरुषार्थसे यथा शीघ्र निर्विकल्प समाधिस्थ हो जाता है। यह निर्विकल्प समाधि पहिले तो कुछ बार हो होकर छूटती है फिर होती है किन्तु अन्तमे उचित लम्बे समय तक निर्विकल्प समाधि होने पर चेतनका चैतन्य स्वभावके अनुकूल परिणमन हो जाता है। इस ही को परमात्म अवस्था कहते हैं।

ससार असार है नानाक्लेश पूर्ण है ' इस असार ससारमें भ्रमण करते हुए सुयोगसे आज मानवजन्म पाया है जिसमें मन अन्य गतियोके सर्व जीवोसे श्रेष्ठ होता है। अब अपना विवेक प्रकट करें। अन्यथा बिना पता बिना सीमाके कीट, वृक्ष आदि जैसे भी कुत्सित योनियोमे भ्रमण कर दुःखी रहना पडेगा।

हमें ज्ञानबलके द्वारा उत्तरोत्तर उन्नत कलावोंमे गुजर कर परमात्म-अवस्था प्राप्त करना चाहिये।

इस योग्य ज्ञान प्राप्त करनेके लिये निम्नाकित विषयो पर अधिकार पा लेना चाहिये —

(१) वस्तु स्वरूप, (२) आत्मस्वरूप, (३) कर्म स्वरूप, (४) आत्म लीलायें, (५) कर्म लीलाये, (६) सामान्य दृष्टि, (७) विशेष दृष्टि, (८) स्वरूप स्वतन्त्रता, (९) निमित्त नैमित्तिक भाव, (१०) निरशको अंश रूपोंमे बताने के प्रयोजन और अभिप्राय, और (११) परमात्म अवस्थाका स्वरूप।

हमारे पूर्वज महर्षि बडी तपस्यावोंके बल पर अनुभव प्राप्त करके सार तत्त्व और उन्नतिके उपायोंको बता गये हैं वे उनके ही प्रणीत ग्रन्थोमे लिखित हैं। हम उनके उपयोग करनेमे प्रमादी न रहें। उन्हें जानकर व उन उपायों पर चलकर हम दुःखोंसे छुटकारा पालें।

२४ जुलाई १९५७

समय निकलने पर यह कल्पना होती कि समय जाना ही नहीं गया। अब तक अनन्तकाल बीत गया है वह ऐसा लगता कि जाना ही नहीं गया। इस भवके इतने वर्ष गुजर गये वह ऐसा ही लगता कि जाना ही नहीं गया। तो जिस आयुकी उम्मीदकी जा रही है वह क्या व्यतीत नहीं होगी। वह क्या ऐसा न लगेगा कि जाना ही न गया। जो बात हम औरोंकी देखते हैं अन्त वाली, क्या उससे हम कभी बच सकते हैं।

सत्य निज स्वरूप जानो, उसमें ही मग्न रहो। अच्छा क्या कहलाता है, अच्छा कैसे होता है, सब यह अपने आप हो जायगा। तुम अन्य विकल्प न करो। विकल्पोंसे काम कुछ न सरेगा। निर्विकल्प परम समाधि इस ही सीधे काममें है कि आत्मस्वरूप जानो और ऐसा ही लखते रहो।

संसार टेढ़ा काम है उसे तो मोहियोंने सीधा मान लिया है। निजभान, निजज्ञान, निज आनन्द स्वयं स्वरूप भी है फिर भी बडा टेढ़ा मालूम होता है मोहियोंको।

कुछ न करना तो कठिन दीखता और अनहोनी करना सरल दीखता। देखो तो कितना अन्धेर है।

२५ जुलाई १९५७

पक्षोंको छोडकर निज कक्षामें रहो।

शिक्षा पाकर शिक्षाकी दीक्षा लो।

परकी भिक्षा छोडकर आत्माकी रक्षा करो।

लक्ष ग्रन्थोंकी लक्ष्यभूत निजतत्त्वकी दृष्टिकी दक्षता प्राप्त करो।

२६ जुलाई १९५७

ब्राह्म मुहूर्तमें बुद्धिकी स्वच्छता रहती है। अतः ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेमें कभी प्रमाद किसी भी मनुष्यको नहीं करना चाहिये।

छोड़नेकी चीज ५ हैं—१ मिथ्यात्व, २ क्रोध, ३ मान, ४ माया और ५ लोभ।

पर पदार्थमें आत्मबुद्धि करना व परको अपना मानना मिथ्यात्व है। चाहे कितना भी बड़ा विज्ञान हो जाय, यदि वस्तुकी स्वतन्त्रताकी प्रतीति

नही है तो आकुलताका अभाव होना असम्भव है। क्योकि, परका परके आधीन परिणमन माननेकी बुद्धिमे, इस सयोगाधीन दृष्टिमें आयोग स्वसे च्युत रहेगा ही और आनन्दमय स्वसे च्युत रहनेकी दशामें आनन्दका कैसे उचित विकास हो सकता है।

क्रोध गुस्साको कहते हैं, गुस्सेमें मनुष्य अपना सर्व कुछ गुण खो बैठता है मानो गुस्सेकी आगमे गुण भुन जाते हैं।

मान घमण्डको कहते हैं, दूसरोको तुच्छ मानते हुए अपनेको बडा समझना घमण्ड है। घमण्डमें भी जीवकी सुध बुध बिगड जाती है। सबको बडा समझते हुए अपनेको बडा समझना गर्वमें शामिल नही है, उसे तो गौरव कहते हैं।

माया छल, कपटको कहते हैं। मनमे अन्य बात है, वचनमे अन्य बात है, करनेमे अन्य बात है वह सब छल है। परिग्रही जीव विषय कषायके सकल्पसे ऐसा करता है।

लोभ लालच व तृष्णाको कहते हैं। लोभ पर पदार्थके विषयमें होता है। उक्त पाचो कुतत्त्व हुये हैं।

२७ जुलाई १९५७

तत्त्वज्ञानही सार तत्त्व है। यही मोक्ष मार्ग है। यह तत्त्वज्ञान जब होगा होलेगा, पहिले तत्त्वज्ञानकी भक्तिमे ५ पापोका त्याग तो कर ही देना चाहिये। पाच पापोके त्याग बिना तत्त्वज्ञानकी पात्रता नहीं होती। पर जीवोकी हिंसावोका सकल्प रखने वाला जीव समस्त पर पदार्थोंसे भिन्न निज शुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टिका कैसे पात्र हो सकता है।

असत्य अहित घटनावोके बनानेके अभिप्राय जालमें उलझा हुआ जीव निज सरल स्वभावका ज्ञाता कैसे हो सकता है।

परधन हरनेकी धुन रखने वाला जीव निज वैभवकी कैसे कद्र कर सकता है।

पराधीन परस्त्रीसगमकी वासना वाले हृदयमें स्वाधीन सहज तत्त्वका वास कैसे हो सकता है।

अत्यन्त भिन्न समस्त पर पदार्थोंका सत्यस्वरूप न समझकर उनकी ओर

आकर्षित रहने वाला जीव अभिन्न निज शुद्धात्मतत्त्वकी कैसे उपलब्धि कर सकता है।

अत. ज्ञान विशिष्ट हो अथवा न हो, पाच पापोके त्यागको प्रत्येक मन वाले जीवको कर ही देना चाहिये।

२८ जुलाई १९५७

मेरा ज्ञान मुझसे प्रकट हुआ यह बात पूर्ण सत्य है। मैं ज्ञान स्वभाव हू, ज्ञान स्वभावका ही विकास होना है। वह ज्ञान स्वभावसे ही होता है। यदि कहो कि बाह्य प्रयत्न बिना कैसे विकास होगा। तो भाई क्यो भ्रम और श्रम करते हो, बाह्य प्रयत्नको चिकीर्षा ज्ञान विकासमे बाधक है।

२६ जुलाई १९५७

यह आत्मा असहाय पक्षीको तरह फड फडाता है। कब तक ? जब तक यह निज निर्विकल्प चैतन्य स्वभावका आश्रय नही करता।

निज स्वभावका आश्रय करके बने उपयोगमें प्रति पहिले ऐसा लोग मानेंगे कि यह तो ज्ञानकी कजूसी हुई, जो ज्ञान विकास था उसकी ही अवहेलना कर दी। किन्तु इस केन्द्रीकरण विधानमें उद्योग रहा तो सहज ही ऐसे व इतने ज्ञानका विकास हो जाता है जो यहाके माने हुए ऊंचेसे ऊंचे प्रयत्न, परिश्रम, युक्तिसे भी प्राप्त नही हो सकता।

रुको, यह तो बतावो कि तुझे ज्ञान बढाना है कि शान्ति पाना है। ज्ञान बढ जाता है इस दृष्टिको रखकर केन्द्रीकरणका यत्न करोगे तो यह यत्न होगा नही। अभिप्राय साफ करलो, सब इच्छायें मिटा लो फिर यत्न करो शान्ति मिलेगी, अन्य लाभकी चर्चा ही मत करो।

आत्मा शाश्वत है, अनाद्यनन्त, शिवमय, अयोनिज, सनातन, परम आनन्दका स्रोत है।

जैसे आत्मा ज्ञानके आशिक विकासमे अथवा जिसको ज्ञेयरूप निमित्त करके विकास हुआ है उस पदार्थके रागमें अटक कर ज्ञानव विकासका घात करता है—

वैसे आत्मा अपने परिपूर्ण आनन्द स्वभावको भूलकर आशिक या विकृत आनन्द विकासमे अथवा जिस पदार्थको विषय बनाकर आनन्द गुण

का विकास किया उस पदार्थमें अटकर आनन्द गुणके विकासका घात करता है।

३० जुलाई १९५७

आत्मा आनन्दमय है। आनन्दके लिये परकी आशा मत करो सर्व आशावोका परित्याग कर विश्राम किया जावे तो वहा सहज आनन्द प्रकट होता है। वह स्वाधीन है, आत्मीय है अत. इसके भोगमे कभी परसे बाधा की सभावना नही। यदि यह खुद ही अपने वैभवको बरबाद करे तो उसका इलाज किसीके वशका नही।

कुछ विवेक कर और अपना आनन्द भोग।

जगतकी ओर कुछ नहीं देखना है, तू स्वतन्त्र है, ज्ञानानन्दरस निर्भर है। एक यथार्थ विवेक कर और सदाको सुखी होउ।

हे प्रिय निष्क्रिय! ससारके दु:खोसे बचनेका उपाय बना लेनेको मनुष्यभव आता है। इसका लाभ उठा सके तो उठा।

रे चेतन! तू सत्य माननेमे तभी तो चेतन है जब चेतन को चेते। अन्य सब जड पदार्थ तो सर्वथा अचेतन है ही किन्तु तेरे लिये अन्य चेतन भी अचेतन हैं क्योंकि व तुझे चेतते नहीं हैं। रागादि भाव भी अचेतन हैं क्योंकि उनमें ता किसीको चेतनेकी शक्ति नही है। इन सबसे प्रीति छोडकर एक निज ध्रुव चेतन्य स्वभावको चेत, मान, ले। बेडा पार हो जायगा। यही चैतन्य स्वभाव ब्रह्मका तुरीयपाद है। यही चैतन्य परमात्मा है जिसके बारेमे यह बात प्रसिद्ध है कि परमात्मा घट घटमे रहता है। चिच्चमत्कारमात्र निज परमात्माको चेत।

३१ जुलाई १९५७

सर्वजीव चैतन्यभाव करि समान हैं-इस दृष्टिके होने पर परम समता प्रकट हो जाती है।

प्यारे! परमें तो तेरी कुछ करनी होतो नहीं है सो कुछ करना शेष रहा हो नहीं अब तो निछक्के हो, लो, अब अपना एक काम करते रहो-सब जीव चैतन्यभाव करि समान हैं सो सबमे चैतन्य देखते रहो। सामायिक चारित्रकी अमोघताका यह प्रत्यय मूल उपाय है।

रे आत्मन्! अपूर्णतामें अपना जाना हुआ मार्ग सही है और हमारा कदम सही है इसके निर्णयके लिये और जो आत्ममार्गमें कर्मोदयवश भाव की विपदायें आती हैं उनके परिहारके लिये गुरुशरण आवश्यक है।

जो बिना गुरुके ही अपनी मनजची वृत्तिके अनुसार चलते हैं वह बाह्यमें यथार्थ भी हो तो भी अन्तरमें विनय तप न होनेसे अपने लिये भार-भूत होते हैं।

किसीको बडा मानकर अपनी वृत्ति बनानेमें कषायो पर विजय पानेमें सुगमता रहती है।

यह मोहका ही परिणाम है कि प्राचीन श्रुत कथावोके आधार पर जिन बातोसे अपनी महत्ता लोकके लिये समझ ली उनका तो अनुकरण होने लगता है किन्तु भाव, वीर्य, आदिकी समताका कुछ हिसाब नहीं देखा जाता।

अविकारी, अविहारी, अप्रहारी, उद्धारी, सर्व परिहारी, निज चैतन्य स्वभावकी अभेदभक्ति परम शरण है।

१ अगस्त १६५७

हे आत्मन् तू तो चैतन्य मात्र है, परके विकल्पोको करके क्या कुछ स्वरूपसे अधिक बन जावेगा। परसे ज्ञान व आनन्दकी आशा करके अपनेको गुणोमें भी अधूरा समझता है। जो अधूरा है वह असत् है, है ही कुछ नही। अपने सत्य पर विश्वास न करके क्या सत्यज्ञान आनन्द कभी भी पा सकता है।

हे आत्मन्! तू ज्ञानमय है अपने पूर्ण स्वभावको देख, अपने स्वभाव का लक्ष्य कभी न छोड। यहा अन्य कोई सहाय नहीं और तेरी अन्य करतूत भी तेरी सहाय नही। स्वभाव दृष्टि, स्वभाववलम्बन यह तेरेको सहाय है, रहेगा।

प्रिय श्रेय! तू अपने परिपूर्ण ज्ञान स्वभावकी दृष्टि छोडकर यदि इस ही स्वभावके आंशिक विकास रूप किसी पदार्थके जाननेमें उस पदार्थमें राग करके अटक जायगा अथवा जो ज्ञान विकास हुआ है इतना ही यह सब मैं हू इस प्रकारकी प्रतीति करके अंशको ही सर्व स्वयं समझकर अपनी

खबर छोड देगा तो उसके फलमें आगेका विकास रुक जायगा, कम हो जायगा, और सम्भव है कम होकर इतना कम हो जाय कि कुछ इन्द्रियावरणोका क्षयोपशम भी कम होजाय फिर तो विकलमय स्थावर जन्मोमें रहकर सडते रहना होगा ।

रे प्रिय ! मन तेरा कुछ नहीं है, चाहे तो मनके आश्रय बिना, तू ज्ञाता बना रहे । यह कलकी बात नही कहते, आजकी ही बात बताते हैं।

२ अगस्त १९५७

खोटे भाव होना ही विपत्ति है, अन्य पदार्थका कुछ भी परिणमन करना विपत्ति नहीं है ।

आत्मा पर असर आत्माके भावका ही होता है, किसी अन्य पदार्थका नहीं होता । हा, आत्माके कुछ भाव ऐसे होते हैं कि वे परको निमित्तमात्र पाकर बन पाते हैं।

किसी भी परकी कैसी ही परिणति हो, तुम अपने मुक्ति पथसे विचलित न होओ । तुम अपने पवित्र कर्तव्यसे विचलित हुए तो इसका फल तुम्हें ही भोगना होगा ।

मनुष्य जन्म और उसमे भी इतने ज्ञानका विकास जो कि भेदविज्ञान में समर्थ है, पाकर यदि प्रमाद किया तो प्यारे ! इस अथाह ससार सागरमें गोते ही खाते रहना होगा ।

ससारके सब प्राणी स्वतन्त्र हैं, सबका अपना अपना भवितव्य है, किसीके तुम पालक नहीं हो फिर किसीके प्रति विरोधभाव रखनेका तुम्हें अधिकार ही नहीं । यदि किसीके प्रति विरोध रखते हो तो यह भाव तुम्हें ससार सागरमे गोते लगवावेगा ।

तुम किसीको भी अपने पास इस तरह न रखो कि उसे या तुम्हे यह लगने लगे कि यह अब तेरे सहारे पर है ।

कुछ भी विकल्प करना अपना घात है इसलिये बाह्य योग ऐसा बनाओ कि विकल्पोके होने को अवकाश न मिले ।

प्रिय निज भगवान्! तुम अधिकसे अधिक काल तक दृष्टिमे रहो ताकि हित ही हित हो ।

अकार्य मन करो झूठका अवसर ही न आवेगा ब्रह्मचर्यका अखण्ड रक्षण करो, तृष्णाका प्रवेश न होने दो।

२ अगस्त १९५७

आज उपवासमे अधिक आत्मलाभ देख रहा हू। कल ११ बजे दिन से ७ बजे सुबह तकके लिये ४४ घण्टेका मौन भी सानन्द चल रहा है। आज यह प्रोग्राम अपनी अहोरात्रचर्याका बनाया है, इसके अनुसार भाद्रपद सुदी ४ तक चलना है--

प्रातः	४॥	से	५॥ बजे	तक	सामायिक
	५॥	से	७।	तक	देववन्दना, पर्यटन, शुद्धि
	७।	से	८॥	तक	प्रवचन, पाठन, वार्ता
	८॥	से	९।	तक	चरणानुयोगका स्वाध्याय
	९।	से	१०	तक	अध्यात्म शास्त्रका स्वाध्याय
	१०	से	११॥	तक	शुद्धि, चर्या, विश्राम (यदि चर्या की तो)
	११॥	से	१२॥	तक	सामायिक
	१२॥	से	१॥	तक	पत्र, डायरी या निबन्ध या संशोधन हिन्दी लेखन
	१॥	से	२।	तक	समयसार एक्सपोजीशन इंगलिश लेखन
	२।	से	३	तक	समयसारभाष्य संस्कृत लेखन
	३	से	३॥।	तक	करणानुयोग स्वाध्याय
	३॥।	से	४॥	तक	पाठन, तत्त्वचर्चा
	४॥	से	५।	तक	न्यायशास्त्र-स्वाध्याय
	५।	से	६	तक	नवीन भाषा साहित्याभ्यास
	६	से	६॥।	तक	पर्यटनादि
	६॥।	से	७॥।	तक	सामायिक
	७॥।	से	८॥	तक	अध्यात्म पाठ
	८॥	से	९॥	तक	भजन, व्याख्यान श्रवण, प्रवचन
	९॥	से	४॥	तक	विश्राम, ध्यान, शयन

आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तन भी हो सकता है।

४ अगस्त १६५७

हे आत्मन्! तू है, अत निरन्तर परिणमता रहता है। अब बता तू चाहता क्या है? परकी ओर झुककर तू अपना परिणमन ही तो चाहता होगा। परिणमन तो तेरा द्रव्यत्व नामका स्वभाव है। तू सदा परिणमता रहेगा यह तेरा अनादि कालीन बरदान है। विश्रामसे रह।

हे आत्मन्! तू सुख ही तो चाहता है। देख परकी ओर झुककर तुम मानते हो कि मैं सुखी हो गया, वस्तुतः तो इस चेष्टासे सुख में बहुमात्रकी कमी हो गई। सुख तो तेरा स्वभाव है, स्वभावकी ओर सुखपिण्डकी ओर झुककर तो अनुभव कर तेरा अपरिमित आनन्द तुझमे अभी प्रकट होता है।

हे आत्मन् तू यह चाहता होगा कि लोगोके समझमे मैं अच्छा कहलाऊ? क्यो ऐसा चाहते हो, लोग तेरे विधाता हे क्या? लोगो ने कुछ तझे वायदा कर रक्खा है क्या? क्या कुछ प्रमुखो ने जबान देदी है क्या कि हम तेरे मरने पर तेरे साथ चलेगे? ऐसा कुछ है तो नहीं है ना। फिर ऐसी इच्छा करनेकी मूर्खता छोड, क्योकि इस इच्छासे तुझे तो कुछ नहीं मिलेगा उल्टा लोगोका दास बनकर परिश्रम ही परिश्रम उठावेगा।

हे आत्मन्! तूने परका सहारा क्यो तक रक्खा है? क्या यह सोचता है कि मेरा बडप्पन इन लोगोकी मेहरबानीसे है? तो क्या तुझे तीन लोकके स्थानोका परिचय नहीं है क्या सबने तुझे बडप्पन दे रखा है। यदि कुछ बडप्पन भी लौकिक है तो वह तेरे सदाचार रहते हुए है, कि दुराचार रहते हुए? सदाचार रहते हुए — तो सदाचारको ही बडप्पनका कारण समझ। निज शुद्ध परमब्रह्मकी प्रतीतिकर उसकी उपासना कर, उसमे अभेद वृत्तिकर। यही निश्चयसे महत्त्वका उपाय है।

५ अगस्त १६५७

अपनी पूर्व पूर्वकी अवस्थावोका ख्याल तो कर। जैसे इस ही जन्मकी लो, पहिले इतना ज्ञान कहा था। साधारणसे ज्ञानमे कोई सन्मान अनपमान की अवधि थी तो वह कितनी सी। तू बाह्य सम्बन्धके लिये अपनेको इतना

ही समझ ले। और अपने लिये जो कुछ अधिक पाया है उसका गुप्त रहकर खूब उपयोग करले।

यह सारा जगत इन्द्र जालसा है, क्षण क्षणमे प्रत्येक पदार्थ परिणमन बदलते रहते हैं। कोई भी परिणमन दूसरे समय भी नहीं ठहरता है। यह स्थूल दृष्टिसे प्रतिभास होता है कि अमुक परिणमन इतने दिनो रहा समान अथवा कुछ समान परिणमती हुई अनेक परिणतियोको एक सा दिखना स्थूल दृष्टि है।

सच पूछो तो यहा सम्बन्ध करने लायक कुछ है ही नहीं। जो कुछ मिलता है वह अन्य है, अत्यन्त भिन्न है, क्षणस्थायि है, वाह्य स्थित है। प्रत्येक अन्यका परिणमन उस अन्यके लिये ही है। मेरा परिणमन मेरे लिये ही है।

सर्व धर्मोंके ग्रन्थोको देख लो जो प्राचीन चले आये हैं सबमें इसी बात को जोर है कि वस्तु स्वरूपको यथार्थ जानो। वस्तुका यथार्थ स्वरूप क्या है यह खुद ही जानना चाहे, जाने तो जान लेगा। अन्य कोई जानकर किसीको सौंप दे ऐसी बात यहा नहीं चलती।

हम किसके हैं, कौन हमारा साथी है, खूब विचार लो। यदि कुछ तुम्हारा नही और न कोई साथी भी है तो अधकुचले ढगसे कल्याणपथमें प्रवृत्ति न करके पूर्ण साहसके साथ अपनेमें अपनेको प्रतिष्ठित कर सहज स्वतन्त्र धर्मका अपूर्व लाभ लो। ॐ शुद्ध चिदस्मि।

६ अगस्त १९५७

मोह मार्गका ही एक उद्देश्य सदैव रहना सर्व विघ्नवाधावोके विनाश का उपाय है। हमे परभावसे मुक्त होना है निज सहज ज्ञान आनन्दके अनुभव ही रहना है। मुझे क्या प्रयोजन है धन वैभव जड पदार्थोंके संग्रह से ? मुझे क्या प्रयोजन है आगे देवाङ्गनाओके भी मिलनसे ? मेरा क्या प्रयोजन सधेगा सरस उत्तम भोजनसे ?।

मुझे तो आखिर सर्वविविक्त निज एकत्वमे रत होना है, अब मुझे न चाहिये जड पदार्थ, अबसे ही मुझे न चाहिये मित्रादि सचित समागम, अबसे ही मुझे न चाहिये सरस भोजन।

मेरा काम सावेगा मेरा ज्ञान मन्त्री। मेरा पूरा पडेगा मेरी आत्मदृष्टि से। जगतके बाह्य पदार्थ मेरे कुछ भी तो नही हैं। बिलकुल तो पृथक् द्रव्य हैं, उनका काम उनमें हो रहा है। उनसे तुम्हें क्या और तुमसे उन्हें क्या ?

तुमने कई बार कठिन बीमारी, उपद्रव, उपसर्गके समय सोचा था कि अबके जिन्दा रहू तो खूब धर्म करना है, वह धर्म क्या करना था सो अब तो पूरा मौका है मन भर धर्मकर, कसर रच भी न रख। शायद तू यह सोचेगा कि शरीर अशक्त है कैसे पूरा धर्म किया जाय तो सुन उत्साह सहित देहविषयक बाह्य चारित्र भी परख, किन्तु उसकी कमी कदाचित् हो तो तू उत्साह हीन मत हो अन्तरङ्ग धर्मसे च्युत न हो। आत्म दृष्टि अधिकसे अधिक बनाकर खूब धर्मका पालन कर। अन्तरङ्ग ज्ञानस्वभावको निरख। अपने वैभवको देख देख सतुष्ट निरन्तर रहा करो। ॐ शुद्ध चिदस्मि।

७ अगस्त १९५७

श्री मज्जिनेन्द्रदेवकी जिनस्वरूपताका ध्यान विषयकषायरूपी मलको दूर कर स्वच्छ आनन्दकी उज्ज्वलता प्रकट करता है।

आत्माके केवल शरणभूत दो ही हैं—(१) निज स्वभाव, (२) परमेष्ठी। निज स्वभावका आश्रय तो निश्चयशरण है। परमेष्ठीका ध्यान व्यवहार शरण है।

आत्माके केवल विपत्ति दो ही हैं—(१) अध्यवसान भाव, (२) बाह्य परिकर। अध्यवसान भाव मोह, राग व द्वेषको कहते हैं यह भाव तो निश्चय विपत्ति है। बाह्य परिकरमें कर्म शरीर और बन्धु मित्रादि चेतन व धन मकान आदि अचेतन आ गये, ये सब व्यवहार विपत्ति हैं।

पर पदार्थ अपनेसे तो अत्यन्त भिन्न है उसका कुछ भी अश मुझमें कभी नही आ सकता और न पर वस्तुके कारण सुख होता है प्रत्युत जितना पर वस्तुकी ओर आकर्षण है उतनी आनन्दमे बाधा है परन्तु मोही प्राणीके चित्तमें, उपयोगमे कोई न कोई पर पदार्थ बसा रहता है अथवा यो कहो कि मोहीका उपयोग किसी भी परपदार्थको विषयकर उलझा रहता है, यह बड़ा कष्ट है।

सदा वस्तु स्वरूपकी यथार्थ प्रतीति रखे और उपयोगको निर्मल रखे

याने किमी भी पर पदार्थको उपयोगमें न बसाये अपने ज्ञानस्वभावको ही विषय बनावे। यह बडी हिम्मतका काम है।

८ अगस्त १९५७

ब्रह्मचर्य एक महान् तप है यह जितना कठिन माना जाता है उतना ही सरल है। जिनकी निर्मल ज्ञानदृष्टि नहीं है पर्यायबुद्धि आपतित होनेसें अति कठिन मालूम होती है। जिनके निर्मल ज्ञानदृष्टिका आविर्भाव हो चुका है उन्हें आत्मीय आनन्दका स्वाद होनेसे ब्रह्मचर्य साधन अतिसरल है।

ब्रह्मचर्यके विरुद्ध प्रवृत्तिमें कितने संकट हैं---

(१) जिसके प्रति विषयेच्छा हो उसका चित्तमे बसाव बनाकर और प्रसन्न करनेकी इच्छा कर आकुलित होना होता है।

(२) पर वस्तुका समागम स्वाधीन तो है नहीं सो उस पर जीवका मिलाप करनेके लिये बडे संकट, श्रम करता है।

(३) कदाचित् उस परका समागम हो जावे तो उसे अपने अनुकूल करनेको मन वचन कायकी चेष्टा करनी पडती है जिसमे भय और उद्वेगका समावेश रहता है।

(४) कदाचित् सर्व अनुकूलता हो जाय (और प्रायः ऐसा इसलिये हो जाता है क्योंकि ऐसे ही तो बहुधा जब अन्य जीव भी तो मलीन हैं) तो आजन्म पराधीनताका दुःख सहना होता है।

(५) और, मिलता क्या है, कुछ नहीं, हानि ही सर्वस्व है, मन वचन कायकी हानि तो प्रत्यक्ष है।

तत्त्वज्ञान होने हर उक्त सब संकट दूर हो जाते हैं।

९ अगस्त १९५७

जीवत्व जीवके स्वरूपको कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपके कारण ही बना रहता है, अन्य द्रव्यकी अपेक्षा, संयोग या शरणसे नहीं। जीव भी जीवत्वके कारण बना रहता है अथवा जीवित रहता है। आहार, राजादिक, मकान व्यवस्था, धन वैभव आदिके कारण जीव नहीं जीता है। अपने मर्म तक उपयोग जावे सो जैसा सत्य स्वरूप देखा वैसा किया जा सकता है। और

उस कालमे जो मैला, जो व्यर्थकी चीज, जो विग्रहका मूल पीछे पड रहा है वह सब समाप्त हो जाता है।

प्रिय ! तू केवल अपनेमें विराम ले, केवल हो जायगा। अथवा केवली हो जायगा। केवलीका अर्थ है कि आत्मनि बलं यस्य स केवली, अपने आपकी आत्मामें पूर्णबल जिसके प्रकट हो गया वह केवली है।

जैसे परदेहमें रुचि करके कामी पुरुष अपने देहके वीर्यको खो देता है और उसीमें आनन्द मानता है। वैसे मोही जीव परवस्तुवोंमें रुचि करके अपने आपके आत्माके वीर्यको खो देता है और उसीमें आनन्द मानता है।

जैसे परदेहकी रुचि छोडकर सदाचारी कोई पुरुष अपने वीर्यका रक्षण करता है और इसके कारण स्वस्थ (तन्दुरुस्त) होकर रोगोंको नष्टकर आनन्द युक्त होता है। वैसे परवस्तुकी रुचि छोडकर तत्त्वज्ञानी कोई पुरुष अपनी आत्मशक्तिका विकास करता है और इसके कारण स्वस्थ (आत्मस्थ) होकर कर्म रोगको नष्ट करके सत्य आनन्दमग्न हो जाता है।

१० अगस्त १९५७

तत्त्वज्ञान होने पर भी जो राग शेष रहता है, जब तक चलता है उस रागका प्रयोग धर्म एवं धर्मात्मावों पर होता है। व्यवहार धर्मका महत्व प्रायः इसी बुनियाद पर टिका है।

करोडों वर्ष पूर्व श्रावण शुक्ल १५ को जो एक धर्मसंकट और धर्मिरक्षणकी घटना घटी थी वह उस समय इतनी आश्चर्यकारक और व्यापक बनी कि उसका स्मरण दिवस अब तक चला आ रहा है। वह है ७०० मुनियोंका दुष्टो द्वारा बाढमें घेर कर बाढका जलाना और श्री विष्णुकुमार मुनिवर द्वारा बड़े ही आश्चर्यकारक पद्धतिसे उनकी रक्षा करना। यह सर्व कथा रक्षाबन्धन कथासे जान लेनी चाहिए।

यह जीवन अनित्य है, देह या तो भस्म किया जायगा या गाढ दिया जाया या पडा पडा सड जायगा। मन, वाणी और उसके साधन भी अनित्य हैं। इन सबका सदुपयोग करना परसेवामें इन्हें लगाना खुदकी प्रसन्नताका भी कारण रहेगा।

तनका कंजूस, मनका कंजूस, धनका कंजूस व वचनका कंजूस ये चार

कजूस होते हैं। उनकी कजूसी उन्हें बरबाद कर देती है।

तनकी कंजूसी शरीरसे परसेवा न करना है।

मनकी कजूसी मनमें अनिष्ट चिन्तवन करना है।

धनकी कजूसी धनको धर्म कार्यमें न लगाना है।

वचनकी कंजूसी हितकारी प्रिय वचन न बोल सकना है।

इनकी कजूसी नष्ट करके उदार बनो, आनन्द होगा।

११ अगस्त १९५७

धर्म मार्ग पर अत्यन्त दृढ रहो। धर्म भीतर करना है। भावकी सम्हाल मात्र है। किसी प्राणीका दुःख करना ही मत सोचो। सर्व प्राणी कुछ कामके समागममें हैं। कोई चाहे तो भी सदा क्या विशेष चिरकाल तक भी संयोग नही रहता। कदाचित् ऐसा हो जाय कि जिस स्थानसे एक मोक्ष गया, उसी स्थानसे, दूसरा जिसके प्रति पहिले अनुराग रहा आया, वह मोक्ष चला जावे इस प्रसङ्गमें दोनोंके आत्मप्रदेश एक स्थान पर हो गये किन्तु इससे क्या वहा तो अत्यन्त वीतराग हैं। एकके ज्ञेय जैसे अन्य सब हैं वैसे ही वह है। किसी भी प्राणीका अनिष्ट न सोचो।

कोई ऐसा काम ही न करो जिसके लिये झूठ बोलना पड़े चुगली निन्दा करना तो महामूर्खताका काम है। इससे मिलता तो कुछ भी नहीं प्रत्युत चुगल और निन्दकको इस लोक व परलोक उभयत्र दुःख, सकट उठाने पड़ते हैं।

चोरी करनेका प्रयोजन ही क्या? चोरीका समूल त्याग करो। कर्मका जैसा उदय है वैसा बाह्य समागम मिलता, तुम्हारा काम ज्ञान, विवेक द्वारा सतुष्ट रहनेका है, तुम अपना काम करो। सकट सहो किन्तु आत्मोन्नित कार्य से कभी न हटो।

कुशील तो विपदाकी साक्षात् खान है और फिर शरीर जिसमेंसे नाक लार बहती है, मल विष्ठा निकलता है, मूत्र पसीना बहता है और फिर नारी शरीर जिसको वे स्वय सकट समझती हैं—रज स्राव होता है ऐसे अपवित्र शरीर की प्रीतिमें क्या रखा उससे तो पूरे ३६ होओ।

परिग्रहका भी सर्व ममत्व छोड़ो। धर्म ही सत्य शरण है।

१२ अगस्त १९५७

बाह्य परिग्रह छोडकर करना क्या है ? आत्मस्वरूपमें स्थिरता।

प्रिय आत्मन् ! एक आत्माको जानो। आत्मा एक ज्ञायक स्वभाव है। वह ज्ञाता मात्र है। किसी पर पदार्थकी किसी परिणतिका कर्ता आत्मा नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अपनी योग्यतासे परिणमते हैं। बाह्य वे पदार्थ भी जो किसी पदार्थकी परिणतिमे निमित्त पड़ते हैं। केवल स्वयका परिणमन करते हुए रहते हैं, इससे अधिक अन्य कुछ याने किसी अन्य द्रव्यमे कोई व्यापार कर नही सकते। सत्ताका स्वरूप ही ऐसा है। इसमे अन्य कोई क्या करे।

व्यवस्था सर्वत्र स्वयं है। कोई बनाता नहीं है। तुम्हे बाह्य व्यवस्थासे क्या मिलेगा। अपनी व्यवस्थामे लगो।

ठूंठको मनुष्य जाननेसे वह ठूंठ मनुष्य नहीं हो जाता है और मनुष्य को ठूंठ जाननेसे मनुष्य ठूंठ नहीं हो जाता है। जानने वाला यथार्थ जाने या अयथार्थ, इसका फल जानने वालेको है। अन्यथा जाननेसे ज्ञेय नहीं बदल जाता है।

हे प्रभो ! हे निजनाथ ! कहीं कुछ नहीं है मेरा, तेरी दृष्टिसे ही सहज आनन्द विकसित होता है। सत्य आनन्दका सिवाय ध्रुव आत्मतत्त्वके उपयोग के अन्य कुछ उपाय है ही नहीं यह निश्चित है।

सर्व पदार्थोंका परिणमन जो होता है वह उनकी योग्यतासे होता है तू अन्य किसीका कर्ता नहीं है। सर्व विकल्प छोडकर निज आत्मतत्त्वकी दृष्टि में रह।

१३ अगस्त १९५७

आज श्री कृष्णचन्द जी देहरादूनके यहा आहार हुआ। धर्मके सिद्धान्तों से बिलकुल अनभिज्ञ होकर भी जो अभी २७ दिन अध्ययन किया है, उससे इनमे बहुत धर्मज्ञानकी प्रतिभा हुई है। रईस वर्गको इनका इस विषयमे अनुकरण करना चाहिये।

मोहके त्यागको धर्म कहते हैं, मोक्षमार्ग कहते हैं। मोहके त्यागमें सर्व संकट नष्ट हो जाते हैं। मोह ही महान् संकट है।

प्रत्येक पदार्थ बिलकुल स्वतन्त्र है, क्योकि सत् है। प्रत्येक सत् स्वयं सिद्ध होते हैं। पदार्थकी क्रिया उस ही पदार्थमे होती है।

अहो जरा भी तो सम्बन्ध नहीं आत्माका पुस्तकसे, शास्त्रसे, लोगोसे, द्रव्यसे, शरीरसे। यह मोही स्वय स्वसे च्युत होकर उन पदार्थोंका उपयोग करता है और अपनी सत्ता भूलकर उन ही पदार्थोंसे अपना सुख, हित व प्राण समझता है।

जीवका जीवत्व पारिणामिक भाव है। इसे आहार न मिले तो कहीं जीवत्व नष्ट नहीं हो जाता है। सम्यग्ज्ञानके अभावमे जीवकी कल्पना बन जाती है कि अमुक पदार्थ बिना गुज़ारा नहीं हो सकता।

अच्छा तुम्हीं सोचो पहिलेके भावोमे तो इस चीज बिना गुजारा तो हो गया था अथवा उस चीजका संयोग न मिला तो गुजारा तो कर ही लोगे अथवा देख तो रहे हो अनेक मनुष्योका उस चीज बिना भी तो गुजारा हो रहा है।

सर्व विकल्प जालोंकी उधेड बुन छोडो। सर्वसे विरति पाकर अपने एक आत्मतत्त्वमे लीन होनेकी धुन चढालो। ॐ शुद्ध चिदस्मि।

१४ अगस्त १९५७

प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, किसीकी परिणतिसे कोई अन्य नहीं परिणमता। जगतका समागम नश्वर है। किसी वस्तुमे अन्तरगसे मोह न करना और अपने पाये हुए ज्ञान, कला, चातुर्य वैभवको न कुछ जानकर व अपने स्वभावको प्रभु जैसा जान कर परभावमे अहं बुद्धि न आने देना कल्याणका मार्ग है।

अपने आत्मामे कुभाव न आने देना ही सत्य पुरुषार्थ है, और अभीक्ष्ण सहज शुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टि रखना उससे भी बडा पुरुषार्थ है।

जीवका इस लोकमे कभी भी कहीं भी कोई सहाय नहीं, अपनी भावना निर्मल बना लेवे यह ही चतुराईका कार्य है।

मै आत्मा चिन्मात्र हू, स्वभावतः प्रतिभासमात्र हू। यह मैं केवल अपना ही कार्य करता हू। अपने परिणमनके अतिरिक्त अन्य कुछ मैं नहीं करता। सर्व पदार्थ भी अपने अपने परिणमको करते हैं कोई किसी अन्यका

परिणमन नहीं करता । मै स्वभावत. प्रतिभास स्वरूप हू अत सर्व कुछ मेरे ज्ञानमें आता है, मैं उन सबका ज्ञातामात्र हू, अधिकारी या कर्ता बिलकुल नहीं हू ।

बाह्यमें सब कुछ है यह मैने बाह्यमे नहीं जाना, किन्तु अन्तर ज्ञान स्वभावकी उस समयकी वतमान पर्यायमे जाना । मेरे लिये बाह्यकी प्रधानता नहीं है । मैं मेरे मे गुप्त हो जाऊ । यहा "मैं" से मतलब वर्तमान पर्याय और "मेरे" से मतलब ध्रुव चैतन्यभाव है ।

शान्तिका प्रयास सब जीवोके है, किन्तु जिनका स्वभावके अनुरूप प्रयास है वे शान्ति पानेमे सफल हो जाते हैं और जिनका प्रयास स्वभावके विपरीत है वे सर्वत्र अशान्ति ही प्राप्त करते हैं । ॐ "शुद्ध चिदस्मि"

१५ अगस्त १९५७

आज भारतवर्षके इस युगकी स्वतन्त्रताका दिन है । स्वतन्त्रताका आज अर्थ इतना रह गया है कि हम कह सकें कि भारतवर्षसे बाहरके देशों में रहने वालो के शासनमे हम नहीं है ।

यदि वास्तविक स्वतन्त्रता होती तो आज यहा पुलिस विभागकी आवश्यकता नहीं होती । प्रकृति भी इसी तत्वका समर्थन करती है । स्वर्गमे ऊपर वैकुण्ठमें अर्थात् नव ग्रैवेयक, अनुदिश और अनुत्तरोंमे सर्व देव अहमिन्द्र हैं अत: वहा कभी कोई गडबडी, कषायविशेष व क्लेश नहीं होता ।

ऐसी स्वतन्त्रता यहा आना असभव है फिर भी जो वर्तमान स्वतन्त्रता है वह हमारी धार्मिक वृत्तिमें आ सकने वाली अनेक बाधावोंके निवारणके लिये कुछ काम आ रही है ।

वास्तविक स्वतन्त्रता तो आत्मतन्त्रता है । यह सम्यग्ज्ञान होने पर ही हो सकता है ।

प्रत्येक पदार्थ स्वय सत् है, सत् अधूरा नहीं होता । प्रत्येक वस्तु परिपूर्ण है । उसमें अन्य कोई क्या करेगा । एक पदार्थका दूसरे पदार्थके साथ रच सम्बन्ध नहीं है । अत्यन्त भिन्न पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध देखना ही तो व्यामोह है ।

पदार्थोंको निरपेक्ष अपनी अपनी सत्तामात्र देखें कि वे हैं, देखना

विवेक है, सत्य पुरुषार्थ है।

निज निरञ्जन निर्दोष परमात्मतत्त्वकी भावना ही हमारे कल्याणकी जननी है।

ॐ शुद्धं चिदस्मि, ॐ शुद्धं चिदस्मि, ॐ शुद्धं चिदस्मि।

१६ अगस्त १९५७

भेदविज्ञान भी एक बुद्धिकी कला है और यह भी आबालगोपाल सबके होती है।

दूसरे के मकानोको अपने न मानना, दूसरे के धन वैभवको अपने न मानना यह भेदविज्ञान भी प्रायः सभी मोहियोके रहता है, किन्तु मौका मिले तो उन सब मकानो, धन वैभवको हथयाले, अपनाले यह संस्कार साथ बसा हुआ है।

कुटुम्ब अपना नहीं है, देह भी अपना नहीं है यह भेदवार्ता भी प्रायः सभी में प्रचलित है।

किन्तु यह भेदविज्ञान जो आत्मा और दशा से सम्बन्धित रखता है अप्रचलित है और दुस्तर है—आत्मा ध्रुव एकस्वरूप है उसकी प्रतिसमय कोई न कोई दशा रहती ही है। जो भी दशा होती है वह उस ही समयके लिये होती है दूसरे समय वह दशा नहीं रहती है। दूसरे समय दूसरी दशा होती है। इस तरह प्रति समय दशायें बदलती रहती हैं। ये आत्माकी दशायें यद्यपि आत्मामे उस काल तन्मय हैं तथापि ज्ञानमे वह सामर्थ्य है कि उनमें उस समय भी आत्मा और इन दशावोंमे भेदविज्ञान करले। आत्मा नित्य है, आत्म परिणति अनित्य है। इसमें भी जो राग द्वेष परिणति है वह उपाधि प्रभव है। इन दोनोका (आत्मा और आस्रवका) भेदविज्ञान एक अपूर्व सत्य क्रान्तिका मूल मन्त्र है।

सत्यम् शिव सुन्दरम् तत्त्व उसी भेदविज्ञानसे उपलब्ध होता है। इस भेदविज्ञानके बिना अन्य प्रकारसे धर्मके नाम पर कष्ट सहनेमें धर्मका अचूक फल आत्मानुभव प्राप्त नहीं हो सकता। ॐ शुद्धं चिदस्मि।

१७ अगस्त १९५७

आज चित्त (उपयोग) चाहता है कि शीघ्र वह क्षण हो जब आत्मा

आत्मलीन हो जावे। परम कल्याण, परम आनन्दके लिये सर्व कुछ छोडना ही पडेगा। जिस बातके छोडे ही शान्ति मिल सकती है उसे चाहना अपनी भूलको लम्बी कर लेना है। आत्माको शान्ति आत्मामें ही मिलेगी। आत्मा का सत्य आत्मामे ही मिलेगा।

मोही जीवका परिचित क्षेत्र जितना भी होता है उतनेमेंही वह मस्त बेहोश रहता है। प्रिय आत्मन्! आज तू यहा है और कल मरण कर यहासे ४-५ राजू दूर जाकर किसी स्थानमे जन्म लिया तो बता अब यह स्थान क्या तेरे लिये सब कुछ है।

मैं ज्ञानस्वभाव हू। स्वभावतः एक स्वरूप हू, ज्ञानस्वभावकी ज्ञान-पर्याय अपने स्रोत ज्ञानस्वभावको ही चेते तो इससे बढकर दुनियामे कोई वैभव नहीं है।

ज्ञानपर्याय ज्ञानगुणको जाने इसमें निर्विकल्प परमसमाधिका अमोघ अवसर मिलता है।

ज्ञान, एक ज्योति है जो निजब्रह्मकी सामान्य ज्योतिसे अपनी ज्योति को मिला देती है।

ज्ञान एक वह रत्न है जिसके पाने पर गरीबीका कभी अनुभव ही नहीं होता। ज्ञान सब पदार्थोंको जुदा देखता है। ज्ञानकी दृष्टिमे यह ज्ञानी सदा निजसे धनिक है। उसमें गरीबीका प्रश्न ही नहीं है।

१८ अगस्त १९५७

मैं ध्रुव चेतन्यस्वरूप हू, रागादिक औपाधिक परिणमन है। रागादिक मैं नहीं हू, क्योकि रागादिक औपाधिक परिणमन हैं किन्तु मैं निरूपाधि चैतन्यस्वभाव हू।

रागादिक मैं नहीं हू, क्योकि रागादिक क्षणस्थायी हैं, विनश्वर हैं किन्तु मैं ध्रुव हू, अविनाशी हू।

१९ अगस्त १९५७

मोहका अर्थ अज्ञान है, अज्ञानका अर्थ कुज्ञान है, अज्ञानका अर्थ वस्तुस्वरूपसे विपरीत ज्ञान है। वस्तुस्वरूपसे विपरीत ज्ञानका अभाव वस्तु-स्वरूपके यथार्थ ज्ञान बिना नहीं हो सकता।

वस्तुस्वरूपके यथार्थज्ञानसे वस्तुस्वरूपसे विपरीत ज्ञानका अभाव हो जाता है अर्थात् कुज्ञानका अभाव हो जाता है अर्थात् अज्ञानका अभाव हो जाता है अर्थात् मोहका अभाव हो जाता है।

परमात्मभक्ति मोहके दूर करनेमें समर्थ नहीं है किन्तु अन्य विकल्पो, विषयकषायोके अभावमें निमित्त होती है।

यथार्थ ज्ञान वाले आत्माको परमात्मभक्ति यथार्थ ढंगकी होती है तो अज्ञानी आत्माकी परमात्मभक्ति पर्यायबुद्धिके पोषणकी ढगकी होती है।

यथार्थ ज्ञानमे अपने पुरुषार्थको लगा देना सत्य व्यवसाय है।

२० अगस्त १९५७

आत्मन्! जितनी पर्याय तेरे स्वभावके उपयोगमें लगती हैं उतनी तो धन्य है और तेरे स्वभावसे बाह्य अन्य भावोमें जितनी पर्याय लगती हैं वे सर्व तेरे घातके लिये पीछे पड़ी हुई हैं।

पर्यायमात्रका व्यामोह आत्माका वैरी है! जितना भी दु.ख है वह सब व्यामोहमात्रका है। व्यामोहके अतिरिक्त और भ्रम भी क्या है।

आत्मन्! तेरा स्वभाव तो ब्रह्म स्वभाव है सिद्ध, प्रभु, भगवानका स्वरूप है, इस महान् उत्तम तत्त्वका घात, तुम स्वय उद्दण्ड होकर कर रहे हो।

तुम्हारी उद्दण्डताका फल तुम ही भोगते जाते हो। अन्य कोई शरण नही हो सकता।

२१ अगस्त १९५७

आत्माका स्वभाव चैतन्य है उसका दो प्रकारका परिणमन है जानना और अपना प्रतिभास करना है। इस स्वच्छताके कारण उपाधिवश रागादि परिणाम होते हैं वह जाननेकी एक उल्टी कला है। ये मेरे भले हैं इनसे मुझे सुख होता है आदि जानना रागका रूप है। चैतन्यके इस पद्धतिसे परिणमनेको राग कहते हैं। ये मेरे सुखके बाधक हैं ऐसे ज्ञान करके परिणमने को द्वेष कहते हैं। ज्ञाता द्रष्टा बने रहना यह तो चैतन्यके विकासकी स्थिरता है और ज्ञाता द्रष्टा रूप न रहकर राग द्वेष पद्धतिसे परिणमना चैतन्यके विकासकी अस्थिरता है। इस स्थिरताको कहते हैं चारित्र और अस्थिरताको

कहते हैं चारित्रका विपरीत परिणमन। स्थिरता अस्थिरता चेतनेके कामको नहीं कहते, इसलिये चारित्रशक्तिको जड कहते हैं।

चैतन्य स्वभावको आत्मासे पूर्ण अभेद एक रूप मानकर फिर सर्व विकासोंका निर्णय करने पर सब शक्ति सब पर्यायें जैसे आत्माके सिद्ध होते हैं वैसे सब स्वभाव व सब पर्यायें चैतन्यमें सिद्ध हो लेते हैं।

२२ अगस्त १९५७

स्वभाव दृष्टि रूप उपयोग नहीं रहता यही एक विपदा है इतनी विपदा मिटालो और फिर बतावो कि विपदा रही कुछ या नहीं रही। याने स्वभाव दृष्टि होने पर विपदा रंच भी रहती ही नहीं।

धर्मके नाम पर भी किसी पर या परभावमें उपयोग रहता है तो वह धर्म नहीं। धर्म प्रथम तो आत्मस्वभावको कहते हैं और फिर आत्मस्वभावके विकासको भी धर्म कहते हैं। किन्तु, जो शुभोपयोगरूप अथवा अशुभोपयोग रूप विकास है वह धर्म नहीं है। धर्म मार्ग पर चलते हुए जीवोंको बीच बीच शुभोपयोग चलता है अतः उसे व्यवहार धर्म कहते हैं।

अशुभोपयोग भी बीच बीच किन्हीं सम्यग्दृष्टियोंके होता रहता है परन्तु अशुभोपयोगके बाद ही शुद्धोपयोगकी योग्यता नहीं रहती। शुद्धोपयोगसे पहिले शुभोपयोग ही रह सकता है। शुभोपयोगके बाद ही शुद्धोपयोग रह सकता है अतः अशुभोपयोगको व्यवहार धर्म नहीं कहा जा सकता।

२३ अगस्त १९५७

श्री महावीर प्रसाद जी बैंकर्स मेरठ और इनकी पत्नी फूलमाला देवी ये दोनो जिस प्रकार अन्तरंगसे ज्ञान रुचि रखते हैं वह गृहस्थोके लिये आदरणीय है, अनुकरणीय है।

अध्यात्मतत्त्व की इनके बडी रुचि रहती है, केवल २ वर्षमें करणानु योग और द्रव्यानुयोग इन दोनों अनुयोगोंका इतना ज्ञान कर लेना प्रभावना की चीज है।

जिस समय जहा जिस प्रकारसे जिसका जो परिणमन होना है उस समय वहा उस प्रकारसे उसका वह परिणमन होता ही है। इस आशय

में ५ बातों पर प्रकाश डाला है उनमे किसी एकको दूर कर देनेसे विडम्बना हो जाती है ।

वीतरागता ही हमारी रक्षिका या सच्ची माता है । उत्कृष्ट ज्ञान वैभव इसी माताके प्रसादसे मिलता है, परमानन्द रूप अमृतका पान यही माता कराती है । कल्पनाओके गर्तों में गिरनेसे यही माता बचाती है । चिपके हुए कर्म पकको यही माता धोती है । दिव्य अतिशयके अलंकारोकी शोभा यही माता कराती है । भववनमें भटकते हुएको यही माता ज्ञान रथ मे बैठाकर प्रभुताके प्रासाद में आराम दिलाती है ।

२४ अगस्त १९५७

जिसके मनमें जो है वह वही गाता है । कितनी भी किसीमे मित्रता हो, कोई किसीके इच्छा,अभिप्रायसे नहीं चलता । यह वस्तु तत्त्वका मर्म है प्रत्येक पदार्थ स्वय बदलता है । कोई भी बदल दो पदार्थोंको मिलकर नहीं होती । अतः कभी भी कुछ भी परिणमन देखकर क्षोभ नहीं करना चाहिये ।

चित्तका गंभीर व उदार बना रहना तो शान्तिका बीज है और चित्त की अनुदारता, चञ्चलता अशान्तिका बीज है ।

चित्तकी गंभीरता तत्त्वज्ञानीके सहज हो जाती है । बाह्य पदार्थमे आत्मबुद्धि व आत्मीयताकी बुद्धि होने पर चित्तका चञ्चलता होना निश्चित ही है । इसका मुख्य कारण यह है कि बाह्य पदार्थ अपनी इच्छाके अनुकूल नहीं परिणमता और बाह्य पदार्थ मे आत्मबुद्धि होनेसे बाह्यका कुछ परिणमनकी चाह चित्त मे होती है ।

समस्त दुःख बाह्य पदार्थ में आत्मबुद्धिका है । हे श्रेय जड वस्तु तू नहीं है, देह तू नहीं है, कर्म तू नहीं है । राग तू नहीं है, अपूर्ण ज्ञान तू नहीं है, पूर्ण प्रकाश भी तू नहीं है, किन्तु पूर्ण प्रकाशका स्रोत तू है । जड वस्तु पुद्गल कि वह पुद्गलकी प्रकृतिके उपादान में हुआ सो प्राकृतिक है । देह पुद्गल कर्मकी प्रकृतिके उदयके निमित्तसे हुआ अतः प्राकृतिक है और जड वर्गणावोकी उपादान में हुआ अतः प्राकृतिक है । कर्म कर्म वर्गणावोकी प्रकृतिके उपादान मे हुआ तथा प्रकृतिको बनाता हुआ उत्पन्न हुआ सो

प्राकृतिक है। अपूर्ण ज्ञान प्रकृतिके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है अतः प्राकृतिक है।

२५ अगस्त १९५७

आत्माका पूर्ण विकास प्राकृतिक नहीं किन्तु नैसर्गिक है। तथापि वह शुद्ध दशा ही सही, दशारूप होने से वह भी आत्मा नहीं है। आत्मा त्रैकालिक अपरिणामी तत्त्व है। परम निश्चय दृष्टि से देखा गया ध्रुव निरपेक्ष आत्मस्वभाव ही सत्य शरण है। इस ही परम ब्रह्मकी उपासना ही धर्म है, शान्तिका अमोघ पुरुषार्थ है।

इस निज परमस्वभाव की दृष्टि के विना ही यह जगजाल ही बना रहा, इन्द्रियजाल बना रहा।

हे शुद्ध चैतन्य तुम निरन्तर दृष्टिमें बसे ही रहो, अनाथ पर्यायको नाथ मिल जायगा। नाथ की छायामें यह अनाथ सनाथ हो जायगा। नाथ के मिलनेमे यह नाथके अनुरूप हो फलेगा।

हे जिनेन्द्र देव ! तुम समय समय पर हृदय में बसते रहो जिस चैतन्य स्वरूप में बसकर तुम परम अविकार हुए हो, जब वह चैतन्यस्वरूप इस उपयोग में न हो तो इस गद्दीको खाली न रहने दीजियो आप विराजे रहियो।

हे परम गुरो ! आपका सत्सम मिलो, मैं नहीं जान पा रहा हू परमगुरु कहा मिलेंगे। किन्तु यह नीति है कि जिसके हृदयोमे जो बसता है वह मिल जाता है। इस नीतिका मानभङ्ग नही होना चाहिये।

२६ अगस्त १९५७

संसार असार है। देह ससार है, वह असार है। मिथ्यात्व, राग, द्वेष संसार है वह असार है। यह संसार दु:ख करि पूर्ण है। यहां कोई भी स्थान, कोई भी पदार्थ रमणके योग्य नहीं है। इसका मुख्य हेतु यह है कि कोई किसी अन्यमें रम ही नहीं सकता।

हे विभाव तुम औपाधिक हो, तुम रह तो सकते हो नहीं, इस ज्ञानानन्दसागरको क्यो गंदला कर रहे हो।

क्या किसी ने कोई प्राणी ऐसा देखा कि जिसका कभी क्षय होगा ही

नहीं। यह तो आगेकी बांत है। क्या किसीने कोई ऐसा प्राणी देखा जो काल के प्रारम्भसे ही जीवित है।

वर्तमान विभाव क्या कोई परम चतुराई है? परम चतुराई है विभाव से दृष्टि हटाकर स्वभावमे स्थित करना।

२७ अगस्त १९५७

आत्मा कहो या ब्रह्म कहो दोनो एक ही बात है। आत्मामें स्वभाव स्वभावरूपसे निरन्तर अन्त' प्रकाशमान है। विभावकालमे विभाव परिणमन होते हुए भी जिसको आधार पाकर विभाव परिणमन हुआ वह तो स्वभाव है और जिसका निमित्त पाकर विभाव परिणमन हुआ वह कर्म है तथा जिसको विषय बनाकर विभाव परिणमन हुआ वह सब प्रकट भिन्न जड़ पदार्थ है।

विभावमे यद्यपि स्वभाव अत्यन्त तिरोभूत हो जाता है फिर भी विभाव की शिथिलतामें तत्त्व ज्ञानी जीव विभाव होते हुए भी विभावसे अत्यन्त उपेक्षित होकर स्वभावमे दृष्टि खचित कर सकते हैं। यह आत्माकी वह अपूर्व महिमा है कि जिसके बिन आत्माका उद्धार ही नहीं हो सकता था।

२८ अगस्त १९५७

इस असार संसारमें दुर्लभ नरजन्मको पाकर किसी भी प्रकार हो, सम्यग्ज्ञान पा लेना ही सर्वोत्कृष्ट अनुपम व्यापार है।

जैसे कोई परस्त्री प्रेमकर और उसे कोई जूते लाठी आदि मारे तो जब तक मामला समझमें नहीं आया तब तक ता भले ही कुछ लोग कहे कि मत मारो इस पर दया करो, किन्तु ज्योही कोई बता देवे कि इसने परस्त्री प्रेम किया है तो वे ही कहने लगेंगे कि इसने यह पाप किया है तो जूते लाठी लगना उचित ही है, यह दयाका पात्र नहीं है। यदि उस पर सच्ची दया करनी है तो ऐसा ज्ञान दिया जावे कि वह परस्त्रीसेवन त्यागी बन जावे।

वैसे ही कोई विषयोमे प्रेम करे और उसें इष्ट वियोग, अनिष्टसयोग धनक्षति आदि उपद्रव हो तो जब तक तथ्य समझमे नहीं आया तब तक भले ही विषय प्रेमी अन्य लोग कहें कि इसे इष्ट समागम करा दो, अनिष्टसंयोग हटा दो धनका उपाय लगा दो, यह दयाका पात्र है, किन्तु ज्यो ही तथ्य

समझमे आजाय कि सिद्ध सदृश चैतन्यस्वभावमय है इस आत्माने अत्यन्ताभाव वाले पर पदार्थोंमें हितबुद्धिकी है ऐसा घोरमिथ्यात्व व असंयमका पाप किया है तो ये सब उपद्रव, आकुलतामे आना उचित ही हैं, यह दयाका पात्र नहीं है। यदि उस पर सच्ची दया करनी है तो ऐसा ज्ञान दिया जावे कि वह पर्यायबुद्धि त्याग देवे अपनी प्रभुताको पहिचान लेवे।

गत २५ दिनोमे मै कुछ न लिख सका इसका कारण दशलक्षणके प्रोग्राम और बाहरसे आये हुये धर्मिपुरुषोका सहवास है जिस कारण लेखनके बजाय अन्य धार्मिक प्रोग्राम विशेष रूपसे चले।

३ अक्टूबर १९५७

आजके दिन प्राप्तव्य शिक्षायें—

परस्त्रीहरणमात्रके दोषसे रावणका ऐसा विनाश हुआ इससे सिद्ध है कि परस्त्रीसेवन तो महापाप है। इस व्यसन वाला सम्यग्ज्ञानका पात्र नहीं होता।

अन्यायका कार्य देख भ्रातृभक्त विभीषण भी निःसकोच भाईसे अलग हो गया और अलग हो गया इतना ही नहीं किन्तु उस अन्यायके विनाशमें सहयोगी भी हुआ इससे यह दृष्टि बनाना चाहिये कि अन्यायमें कभी हाथ न बटावे चाहे कितना भी किसीका स्नेह हो।

श्री रामके वशके हों अथवा रावणके वशके हो उन्होंने बडे बड़े वैभव पाये और कुछ भी हाथ न रहा। ससारकी यह स्थिति देख किसी भी वैभव की रुचि न करना इसमें संतोष मिलेगा और मोक्षका मार्ग मिलेगा।

रामचन्द्रजी सीताके लिये नहीं लडे किन्तु न्यायके लिये लडे इसका सबूत यह है कि रावणको जीत सीताको घर लाने पर कुछ माह बाद जब किसीने दृष्टान्त सीताका दिया तब सीताको रामने ही वनमें छुडवा दिया। इससे यह सीख मिलती है कि हमेशा न्यायके लिये अपने जीवनको मानो। न्यायमें ही कुटुम्बका पक्ष हो।

राम, लक्ष्मण, सीता ये तीनों बडे पुण्याधिकारी जीव थे किन्तु इनके पुण्यसे इन्हें जीवनमें कितनी विपदा उठानी पडी यह सबको ही विदित है। इस कारण भैया न पाप चाहो, न पुण्य चाहो किन्तु निर्विकार परमब्रह्मकी

उपासनारूप धर्म करो। इस धर्मसेवनसे सदाके लिये सर्वक्लेश मिट जावेंगे। आखिर रामचन्द्र जी ने इस धर्मकी ही तो आराधना की।

४ अक्टूबर १९५७

इस जगत्में किसी परविषय विकल्प करके मौज मानना एक खतरा है, यह सब रौद्रध्यान है। रौद्रध्यान आर्तध्यानसे भी भयङ्कर है।

अपने स्वभावकी प्रतीति कर उसमें ही स्थित होना याने स्वयंको शुद्ध चैतन्यभाव अनुभव करना एक सार पुरुषार्थ है।

नाथ! तेरे स्वरूप, दर्शन ज्ञानमयके ध्यानमें निरन्तर उपयोग रहो। इससे चिगे कि आपत्ति ही आपत्ति है। आपत्तिका अर्थ है आ समन्तात् पत्तिः आपत्तिः। चारो ओरसे बाहरसे जो आवे सो आपत्ति है। आत्मामें बाह्य पदार्थ तो कभी आता नहीं है, निमित्त नैमित्तिकभावके हेतु एक क्षेत्रावगाह हुए कर्म और शरीरको बाहरसे आये हुए कह सकते सो वह आपत्ति ही तो है। कर्मके निमित्तसे आत्मामें जो रागादि आते हैं वह तो आत्मामें आये और बाह्यके निमित्तसे आये अतः आपत्ति ही तो है।

वास्तवमें आपत्ति राग द्वेष मोह भाव है। यह जैसे मिटे उस उपाय का नाम मोक्ष धर्म है। इनके मिट जानेका नाम मोक्ष है। इनके बननेका नाम संसार है।

प्रभो और जो चाहे कुछ हो किन्तु आपकी रुचि रूप परिणाम मेरा नष्ट न हो क्योंकि आपको भूला तो फिर सर्वत्र अन्धेरा ही अन्धेरा है।

सत्य प्रभुताके उपयोगमें रहने पर कदाचित् विपदा भी आवो तो भी आकुलता नहीं रहती फिर विपदाने क्या बिगाडा।

५ अक्टूबर १९५७

विकल्पोंका न रहना ही समाधि है, परमयोग है, परमपुरुषार्थ है, धर्म है। एतदर्थ निःसङ्गता अधिक उपयोगी है। पूर्णनिःसङ्गता न बने तो अत्यल्पसङ्गता रहे।

अभी जो मुमुक्षुसत्सङ्गकी चर्चा हो रही है और उसका उद्घाटन भी पूर्णिमाको होने वाला है। उसमें भी कम लोग रहें पर रहे कल्याणार्थी बुद्धिमान। बहुसमागम तो चाहिये ही नहीं। अल्पसमागम धर्मध्यान वार्ता

सम्यग्ज्ञानके बलसे अन्तमें बुद्धि परिणमनका व्यय होकर शुद्ध ज्ञानरूप परिणमन चलता है। ज्ञान गुण आत्माका अभिन्न स्वभाव है। गुण गुणी भेदसे ज्ञानको ससार मोक्ष कहिए गुण गुणी अभेदमे आत्माका संसार मोक्ष कहिये।

७ अक्टूबर १९५७

मिथ्याबुद्धि, पर्यायबुद्धि, भ्रमबुद्धिमे आकुलता होना उचित है, नीति है। यदि मिथ्यात्वमें भी अनाकुलता होने लगती तो धर्मका नाश हो जाता है। जैसे ज्ञानी लोग ज्ञानबलसे अनाकुल रहकर धर्मकी रक्षा करते हैं धर्म की महिमा बढ़ाते हैं। मोही जीव भी अज्ञानसे आकुलित होकर धर्मकी रक्षा कर रहे हैं इन्होने धर्मका स्वरूप यथार्थ रूपसे रहने दिया है, उस स्वरूपमे बिगाड़ नही किया है। ये मोही भी इस प्रकार धर्मकी महिमा बढ़ा रहे हैं।

ज्ञानी जीवोने धर्म परिणत अपना रूप प्रकट करके धर्मकी महिमा बढाई है। मोही जीवोने भी अधर्म परिणत अपना पर्याय प्रकट करके धर्मकी महिमा बढाई है।

ज्ञानी जीव ज्ञान एवं तप बलसे देव, देवेन्द्र पद पाकर या परम विकास रूप आनन्दमय निर्वाण पद पाकर धर्मकी महिमा बढाते हैं। अज्ञानी जीव विषयकषायकी वासनासे नरक, तिर्यञ्च भव पाते हुए अधर्मका फल बनाकर धर्मकी महिमा बढाते हैं।

अहो, देखो, सभी जीव पोजेटिव या निगेटिव किसी भी रूपमे धर्मकी ही महिमा बढा रहे हैं।

सर्वज्ञ देव सर्व पदार्थोंके जाननेमें दर्पणकी तरह है। जैसे कोई दर्पण ऐसा है कि जिसमें छोटीसे छोटी चीज भी बडी रूपमे स्पष्ट मालूम होती है। इसी प्रकार सर्वज्ञ देवके ज्ञानमे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु आत्मा इत्यादि भी स्पष्ट झलकते हैं। जैसे एक्सरा आदि कई दर्पण जाति ऐसी हैं कि जिनमें अन्तरित गुप्त हड्डी वगैरह भी स्पष्ट झलक जाती है इसी प्रकार सर्वज्ञ देवके ज्ञानमें कालान्तरित पर्यायें सर्वज्ञ देवके ज्ञानमें झलकते हैं। जैसे कई दर्पण (काच) ऐसे होते हैं कि जिसमें दूर वर्ती पदार्थ साफ झलक जाते हैं उसी

प्रकार सर्वज्ञ देवके ज्ञानमें दूरवर्ती पदार्थ भी स्पष्ट झलकते हैं। सामान्य दर्पणमें सामान्य तौरसे।

८ अक्टूबर १६५७

आज मुमुक्षुसत्सङ्गका उद्‌घाटन श्री फतेहलाल जी संघी जयपुर निवासी रिटायर्ड ट्रेजरी आफीसरके हस्तसे हुआ। इन बन्धुवोंकी भावना विहार आवास सर्वत्र साथ रहकर धर्मसाधनकी है। आज चार मुमुक्षुसत्सङ्गमें प्रविष्ट हुए, (१) फतेहलाल जी सघी, (२) नर्मदाप्रसाद जी, (३) जिनेश्वरप्रसादजी सराफ, (४) रूपचन्द जी माजरा मिल वाले।

इस सत्सगका उद्देश्य सात्त्विक रीतिसे भोजन कर शेष समयको यथा संभव धर्म ध्यानमें बितानेका है।

प्रोग्राममें सत्सगी धार्मिक कार्यक्रम निम्नलिखित प्रकारसे रखे जानेका इन सबका विचार है–

॥। घण्टा	कीर्तन व द्रव्यानुयोगका स्वाध्याय
१॥ घण्टा	मौन पूर्वक स्वाध्याय व सामायिक
॥। घण्टा	प्रवचन
॥। घण्टा	करणानुयोग स्वाध्याय
१॥ घण्टा	मौन पूर्वक सामायिक व लेखन
१॥ घण्टा	पठन पाठन
॥। घण्टा	चरणानुयोग स्वाध्याय
॥। घण्टा	चर्चा समाधान
१॥ घण्टा	मौन पूर्वक सामायिक व स्वाध्याय
॥। घण्टा	प्रथमानुयोगका व आधुनिक अध्यात्म पुस्तकका स्वाध्याय
१॥ घण्टा	प्रवचन सहित सभाका प्रोग्राम

६ अक्टूबर १६५७

बाह्य परिग्रह १० हैं वे इस प्रकार भी-हैं–१ खेत, २ मकान, ३ धन, ४ धान्य, ५ वर्तन, ६ वस्त्र, ७ द्विपद, ८ चतुष्पद, ६ सवारी, १० आसन।

परिग्रहका परिणाम गृहस्थका आभूषण है, संतोषका मूल है। परिग्रह

के परिमाण बिना मनुष्यकी आशा बिना तला गड्ढे के सदृश है। जैसे कल्पना किया जावे कि कोई ऐसा गड्ढा है जिसका कि तला नहीं है, उसमे कितना भी कूड़ा डाला जावे उस कूड़ेसे क्या पूरा पड़ता है, क्या कभी वह गड्ढा भरा जा सकता है ? कभी नहीं। इसी तरह कितना भी धन संग्रहमें आ जाय तो भी क्या आशाकी पूर्ति हो सकती है। यदि गड्ढेका तला है तो वह कुछ कूड़ेसे जरूर पूरा भर जायगा। इसी तरह यदि आशामें परिमाणका तला है तो वह आशा भी कुछ संग्रहके पश्चात् पूरा भरा जा सकता है। ऐसी बात बनानेके लिये परिग्रहका परिमाण अवश्य किया जाना चाहिये।

ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ ।
ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ ॥

१० अक्टूबर १९५७

जब हृदयमें मलिनता होती है तो किसी भी प्रकारके विषयोमें प्रवृत्ति करनेकी चेष्टा होती है। हृदयमे मलिनता न हो तो विषयोंमें यत्न कौन करे। विषयोके प्रसगमे जो भी जीवको दुःख है वह विषयोके बाह्य याने बाह्य पदार्थके कारण नहीं है, किन्तु विषयोमें राग है उस रागभावके कारणसे दुःख है।

दुःख मेटनेके लिये बाह्य अर्थोंका सयोग वियोगका परिश्रम मोही उठाता है और तत्त्वज्ञानकी ओर दृष्टिका पुरुषार्थ ज्ञानी करता है।

तत्त्वज्ञानसे ही क्लेश मिटता है, क्योकि तत्त्वके अज्ञानके कारण उत्पन्न हुए मोहसे ही क्लेश होता है।

क्लेशका कारण मिटनेसे क्लेश भी समाप्त हो जाता है। क्लेशका कारण मोह, मोहका कारण तत्त्वका अज्ञान। तत्त्वका अज्ञान तत्त्वज्ञानसे ही समाप्त होता है।

तत्त्वका अज्ञान ज्ञानशक्तिकी विपरीत विभाव पर्याय है और तत्त्वका ज्ञान ज्ञानशक्तिकी सम्यक् विभाव पर्याय है। किसी भी शक्तिकी पर्यायका व्यय उस ही शक्तिकी नवीन पर्याय प्रकट होनेसे होता है। अतः तत्त्वका अज्ञान भी तत्त्व ज्ञानके बलसे प्रकट होता है।

११ अक्टूबर १९५७

जैसे धान्यका ऊपरी छिलका जब तक दूर नहीं होता तब तक चावल का लाली रूप मल दूर नहीं हो सकता। वैसे बाह्य परिग्रह जब तक दूर नहीं होता तब तक आत्माका रागादि मल दूर नहीं हो सकता।

यहा वह प्रश्न उपस्थित होता है कि रागादि दूर हुए बिना बाह्य परिग्रह भी तो नहीं छोडा जाता फिर उक्त नियम कैसे सत्य बने ? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो ऐसा ही होता है कि रागादि शिथिल हुए बिना बाह्य परिग्रह नहीं छूटता किन्तु फिर रागादिका बिलकुल अभाव बाह्य परिग्रह के त्याग बिना नहीं हो सकता।

बाह्य परिग्रह छूटनेका कारण रागादिकी हीनता है और रागादिके सर्वथा अभाव होनेका कारण बाह्य परिग्रहका त्याग है। यह सब निमित्त नैमित्तिक भावका तथ्य है।

रागादि कितना हीन होने पर बाह्य परिग्रह छोडा जाता है इसका कुछ व्यावहारिक रूप नहीं है, अतः जब भी विवेक जगे बाह्य परिग्रहसे निवृत्त होनेका यत्न कर लेना चाहिये।

१२ अक्टूबर १९५७

काय, वचन और मन इन तीनोंके व्यापारको बन्द करके सहज विश्राम में रमे जाने पर जो विशुद्ध आनन्द प्रकट होता है वह पुण्यकी अनेक अनुकूलतावोंमें भी असंभव है।

जीवनका उत्तरार्द्ध तो धर्मपथमें लगना ही चाहिये देखो तो सरकार की सर्विस करने वालोंको सरकार अन्तमें कितनी शोभाके साथ रिटायर कर देती है। उसका भी तात्पर्य यह है अब शेष समय धर्म साधनमें बितावो। पहिले समयमें तो यह आम रिवाज सा था कि अवस्था व अवसर पाकर लोग अपने पुत्र आदि अधिकारीको सर्वदत्ति देकर अर्थात् सर्वस्व सभलवाकर साधु हो जाते थे। यदि यह कहा जाय कि उस समयका जमाना भला था व शक्ति भी उत्तम थी सो ऐसा किया जा सकता। किन्तु, आज जमाना भी भला नहीं है व शक्ति भी कम है तो कैसे निश्चिन्तताका वह पथ अपना लिया जावे ? तो भैया! वैसा नहीं किया जा सकता तो मध्यममार्गसे तो चला ही

आ सकता है । अर्थात्—रिटायर लोग अपनी पेन्शनसे अपनी आजीविका समझकर निश्चिन्त होकर धर्मसाधन व सत्संगमें लगे । व्यापारी आदि अन्य बन्धु क्या करें ? तो भैया सरकारने भी उनकी यह मददकी है कि इनकमटैक्ससे छुटकारा पानेके लिये सबका अलग अलग रजिष्ट्रेशन करवा दिया है सो अपनी नियत आमदनीके ज़रियेसे प्राप्त धनका व्यय दान करें और निश्चिन्तताके साथ धर्मसाधन व सत्संगमें लगें । ॐ शुद्ध चिदस्मि ।

१३ अक्टूबर १९५७

जिस ज्ञान पर, जिस सुख पर संसारी जन इतराया करते हैं वह है तो कितना पराधीन और व्याकुलतापूर्ण किन्तु इसकी ओर ध्यान न जाकर उसमे ही ससारी जन बडप्पन व हित समझता है । यह सब पर्याय बुद्धिका माहात्म्य है ।

परकी दृष्टि न रहेगी तो मृत्युका भी भय न रहेगा । मरनेका भय मरने वालेको नही होता है किन्तु वे पर पदार्थ यहीं पड़े रह जाते हैं, छूट जाते हैं जिनका मोह वश सग्रह किया और जो अति प्रिय लग रहे हैं, इनके वियोग की कल्पनासे ही दिल घवडा जाता है । यह कारण है मृत्युके समय मानसिक वेदना होनेका ।

यदि जीवन भर शान्ति चाहते हो, मरणके समय भी शान्ति चाहते हो, मरणके बाद भी शान्ति चाहते हो तो पर पदार्थोंसे भिन्न अपनेको समझो, पर पदार्थमें हित बुद्धि छोडो, परसे विभक्त अपने गुणमें एकत्वरूपसे परिणत निज आत्मतत्त्वकी दृष्टि करो ।

प्रिय आत्मन् ! तुम अकेले ही घूमते घामते यहा आ पहुचे । अब तुन्हे किसने बहकाया है जो तुम अपने इस अकेलेपनकी दृष्टि न करके अपने आनन्द वैभवका घात कर रहे हो ।

हे कल्याण मूर्ते ! तुम स्वयं कल्याणकी मूर्ति हो । कल्याण, मंगल, सुख कही बाहरसे नहीं आना है, केवल तुम अपने सहजस्वभावको समझ लो, मान लो, तो सर्व कुछ सार यहीं प्रकट हो लेगा ।

१४ अक्टूबर १९५७

भूलो पर भूलें लम्बी होती चली जाती हैं किन्तु उनका प्रतीकार सत्य

का आग्रह करके नहीं करता है। भूलके आदरमें कहीं भूलोंका अन्त हो सकता है ? भूलोंका अनादर करे और सत्स्वभावका आदर करे उससे सत्पथ पाया जा सकता है।

सबसे बड़ी तबाही तो यह है कि हम कहना जानते हैं करना नहीं जानते। कदाचित् कोई धर्मवृत्ति करे भी तो अदृढ़ होकर या संशयित होकर करते हैं यह है दूसरी तबाही। कदाचित् असंदिग्ध होकर भी कोई धर्मवृत्ति करे तो उनमें भी कई ऐसे हैं कि उपादानमें मलिनताका उपशम होनेके कारण निमित्त पाकर उपशान्त कषायको भी उखाड़ लेते हैं यह है तीसरी तबाही।

जिसकी सचाई सचाईमें आ जाय तो वह लोकोत्तम हो जाता है।

सत्यता केवल वचनकी घटनानुरूप बोलनेकी वृत्तिको ही नहीं कहते हैं। सर्व सदाचार और सत्य श्रद्धानके साथ हित मित प्रिय वचन भी हों तो उसे सत्यता कहते हैं।

खुदकी सचाई मात्र वचनोंकी व्यवहार सत्यता सचाई नहीं कही जा सकती।

१५ अक्टूबर १९५७

मन वचन कायकी खोटी क्रिया न होने देना भी महती तपस्या है। मनमें कामका विकार, यशकी चाह न हो, वचन मर्मभेदी व अहितकर न हो, कायसे कामचेष्टा या चिढ़ानेकी चेष्टा न हो तो यह स्थिति भी उत्तम फल को देने वाली होती है।

बात कम करना, पुरुषार्थ अधिक करना स्वयंको लाभप्रद है। पुरुषार्थ का अर्थ है पुरुषका अर्थ अर्थात् जिस वृत्तिसे आत्माके शुद्ध विकासका प्रयोजन सधे उसे पुरुषार्थ कहते हैं।

श्रद्धान, ज्ञान, आचरण सम्यक् बने इसीमें पुरुषके अर्थकी सिद्धि है।

वीतराग महर्षियोंकी कृपाका बदला देना सामर्थ्यसे बाहर है। जिन्होंने ज्ञानाञ्जनकी सलाईसे अज्ञान अन्धकारसे अन्धोंके ज्ञानचक्षु खोले हैं उनके इस महोपकारका कोई ऐसा बदला ही नहीं है कि उन्हें दिया जा सके या उनके नाम पर ही कुछ किया जा सके।

हम लोग अति कमजोर पुरुष हैं, निमित्त जुटने पर विषयकषायके भाव आ धमक सकते हैं, आधमक जाते हैं, इस महती विपत्तिसे बचनेके लिये उन निमित्तोंका समागम हटा देना चाहिये।

१६ अक्टूबर १६५७

क्षयोपशममें सर्वघाती स्पर्द्धकों उदयाभावी क्षय व उपशम रहता है। यहा भी प्रति समय उदय तो चलता है किन्तु ऐसी निर्मलता है कि वह उदयाभावी क्षय बन जाता है।

उदयमें आकर भी रस न दे उसे उदयाभावीक्षय कहते हैं। इसका भाव है कि जब रस न दिया तो अन्य हीन रस रूप हो गया।

क्षयोपशम २ प्रकारसे होता है—ज्ञानावरणका क्षयोपशम तो अन्य ढंगका है, चारित्र मोहनीयका क्षयोपशम अन्य ढगका है। व्यापी नियम यह है कि देशघाती प्रकृतिका क्षयोपशम और प्रकारसे है सर्व घाती प्रकृतीका क्षयोपशम और प्रकारका है।

ज्ञानावरणका क्षयोपशम—जैसे मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम है तो उसका भाव है कि मतिज्ञानावरणमें जो सर्वघाती स्पर्द्धक हैं उनमेंसे जो वर्तमान उदयमें आ रहे हैं याने जो ठीक काल पाकर खिरनेको हैं उनका विना रस दिये खिर जाना और जो आगामी कालमें उदयमे आवेगे उनका उपशम हो तथा मतिज्ञानावरणमे जो देशघाती स्पर्द्धक हैं उनका उदय रहे इस स्थिति को मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम कहते हैं।

चारित्र मोहनीयका क्षयोपशम—जैसे अप्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम है तो उसका भाव है कि अप्रत्याख्यानावरणमें जो वर्तमानमें उदय आ रहे हैं याने काल पाकर खिरनेको हैं उनका तो उदयाभावी क्षय याने विना रस दिये खिर जाना तथा जो आगामी कालमे उदयमें आवेंगे उनका उपशम तथा प्रत्याख्यानावरणका उदय रहना इसको अप्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम कहते हैं।

१७ अक्टूबर १६५७

आज पं० ज्ञानचन्द्र जी "स्वतन्त्र" सूरतसे आये। आप निष्कपट एवं सात्त्विक जीवी पुरुष हैं। जो अपना सदाचार रखेगा उससे वही सुखी होगा।

धर्म कर्ममे बढना एक चित्त होकर । फिर धर्म परिणामके विरुद्ध मन वचन कायका कोई चेष्टा नहीं करना ।

यदि कुछ धर्मवृत्ति और कुछ विकारकी चेष्टा ऐसा ही ढर्रा चला तो उससे लाभकी आशा नहीं है । ऐसा अवसर अधिक सभव है कि रही सही "ज्ञानविशेषता" व पुण्योदयजन्य "चलती" नस्ट हो जाय ।

यदि वर्तमान आत्मविभव तिरोभूत हो जाय तो फिर वही अन्धकार सामने आयगा जिसमें कुछ उपाय नही चलता । वह अन्धेर न आवे इसका उपाय तो यही है कि प्राप्त तन मन वचन धनका उपयोग विषयकषायोंमें न किया जावे और धर्मानुरागमे इनका सदुपयोग हो ।

वे जीव धन्य हैं जो आत्मज्ञानके अतिरिक्त अन्य कार्य बुद्धिमें धारण नहीं करते हैं, आत्मतत्त्वकी बातके अतिरिक्त अन्य बात बोलनेकी रुचि नहीं करते हैं, निश्चल आत्मतत्त्वके प्रतीक कायकी गभीर मुद्रासे विलक्षण शरीर की चेष्टा नहीं करते हैं और स्वपरके ज्ञान व समतासाधनके अतिरिक्त अन्य कार्योंमें धन व्यय नही करते हैं तथा न ंच भी धनकी तृष्णा व सग्रह बुद्धि रखते हैं ।

१८ अक्टूबर १९५५

आज ४२ वर्ष बाह्य जीवनके व्यतीत कर डाले, कितना लाभ रहा ।

स्वय चलती फिरती दिखने वाली शक्लें क्या हैं ? माया है, असमान जातीय द्रव्यपर्याय है । चेतन व कर्मके निमित्त नैमित्तिक बन्धके कारण हुए नोकर्मके बन्ध समेत तीनकी पर्याय है । चेतन, कर्म व नोकर्म इन तीन की पर्याय यह स्थूल दृश्यमान है तो, परन्तु वस्तुत' चेतन द्रव्यकी पर्याय चेतनके प्रदेशोमें है, कर्मकी पर्याय कर्मके परमाणुवोमें है; नोकर्मकी पर्याय नोकर्मके परमाणुओमे है । वह सब एक पिण्ड बन्धरूप हो रहा है अतः वह स्थूल दृश्यमान तीनकी पर्याय कही जाती है ।

उन तीनोमे से कर्म व नोकर्म तो पुद्गल द्रव्य ही हैं और चेतन जीव द्रव्य है, अत' यह पर्याय चेतन और पुद्गल इन दो द्रव्योकी कही जाती है ये दो द्रव्य समान जाति के नहीं हैं । पुद्गल अजीव है और चेतन जीव है । इस कारण यह पर्याय असमान जाती द्रव्य पर्याय कहीय जाती है ।

जीव रहित पिण्ड मेज कुर्सी चादी सोना आदि जो कुछ है वह सब समान जातीय द्रव्य पर्याय है। पुद्गल द्रव्योसे वह सब रचित है। अतः है तो समान जातीय द्रव्य पर्याय, परन्तु मुझसे अत्यन्त विजातीय है।

उक्त दोनों पर्यायें मैं नहीं हू, मैं ध्रुव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमय हू। ॐ शुद्धं चिदस्मि।

१६ अक्टूबर १६५७

दु:ख सबको अपने अपने अपराधसे है। कोई कल्पना करे कि अमुकने ऐसा अपराध किया जिससे मुझे दुःख पहुचा, तो यह बडी मूर्खता है पूर्ण विचार है।

मोही परके प्रति अपना स्वामित्व विचारता है उसे वस्तु स्वरूपकी खबर नहीं। स्वतन्त्र सत्ताकी समझ बिना ऐसी मूढतायें हो जाती हैं।

चाहे किसीसे कितना भी राग हो, परन्तु स्वामित्व अशमात्र भी नहीं हो सकता ?

इस ही मर्मके बोध विना ही तो संयोगाधीन दृष्टि हो जाती है। इतना मर्म वस्तुका पाले तो संसारके क्लेश समाप्त हो जाते हैं।

प्रिय आत्मन्! जैसा वस्तु स्वरूप है तैसा ही सत्य समझो इसमें तेरे आनन्द ही आनन्द रहेगा।

अब तो समझ, जो भी दु ख तुझे होता है वह तेरे अपराधसे ही होता है। तू वस्तु स्वरूपके विरुद्ध कल्पना करता है इसीसे आकुलता बढती है।

निजको निज परको पर जान, फिर दु:खका नहिं लेश निदान।

प्रियतम, सर्ववल्लभ, स्वभावत: स्वशम, निज चैतन्य प्रभो! अब जो हो सो हो, किन्तु केवल तुम एक मेरी प्रतीतिसे अलग न होओ।

ॐ शुद्ध चिदस्मि।

२० अक्टूबर १६५७

नेत्रेन्द्रिय जन्य ज्ञानसे पहिले जो अन्तर्मुख चित्प्रकाश है उसे चक्षुर्दर्शन कहते हैं और नेत्र इन्द्रियको छोडकर अन्य इन्द्रिय व मनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानसे पहिले जो अन्तर्मुख चित्प्रकाश है उसे अचक्षुर्दर्शन कहते हैं। दर्शनके ये भेद उपचारसे हैं।

२२ अक्टूबर १९५७

किसी पर द्रव्यका अन्य कोई पर द्रव्य किसी प्रकारका परिणमन नहीं कर सकता। जन्म, मरण, सुख और दुःख आयुकर्मके उदयसे आयु कर्मके क्षयसे, पुण्यकर्मके उदयसे और पापकर्मके उदयसे होते हैं। जन्म व सुख एवं दुःखमे तो प्रायः लोग जल्दी समझ जाते हैं कि दूसरेका जन्म दूसरा नहीं करता तथा सुख दुःख भी नहीं कर सकता। मरणके सम्बन्धमें समझ पाना कठिन हो रहा है। मरण भी दूसरे का दूसरा नहीं कर सकता यह बात समझ लेना इस कारण कठिन हो रहा है कि लोग ऐसा देखते हैं कि किसी ने किसीका गला तलवारसे उडा दिया तो लो कर तो दिया मरण किन्तु, ऐसे प्रसगमे भी मरण दूसरेने नहीं कर दिया, वरन् उसके ही आयुके क्षयसे मरण हुआ है। गला अलग हो जाने पर मिनट आध मिनट जीवित रह सकता है, जब आयुका क्षय होता है तब मरण होता है। हा यह बात अवश्य है कि आयुक्षयका बाह्य निमित्त वह शास्त्र घात बन गया है।

२३ अक्टूबर १९५७

२४८३ वर्ष पहिले इस दिन सूर्योदयसे १ घडी पहिले भगवान महावीर स्वामी मनुष्य पर्याय त्यागकर सिद्ध हो गये। जिस समय साक्षात् केवली महावीर तीर्थङ्करके दर्शन होते थे उस समयके दर्शकोको क्या अनुपम हर्षका अनुभव होता होगा। आज हम उनही भगवान महावीर स्वामीके तीर्थमें बोध पाकर यथाशक्ति मुक्तिमार्गमें चल रहे हैं।

सम्यग्ज्ञानका कदम बडे वेगसे निर्मलताकी ओर ले जानेका रहता है। सम्यग्ज्ञान पाया तो इसकी सब भाति रक्षाकी कोशिश करो।

हमारा सम्यग्ज्ञान सुरक्षित है या नहीं, इसकी पहिचान करना है तो उसके २ लक्षण हैं-(१) निज शुद्ध आत्मतत्त्वकी एकतामें जुडने वाला उपयोग रहता है या जुडनेको तैयार रहता है अथवा नहीं ? (२) विषयकषायो से हटकर निर्मलताकी ओर आत्माकी वृत्ति चल रही है अथवा नहीं।

यदि उक्त पहिचानोंमें उल्लिखित विधि नहीं प्रतीत होती तो यत्न करो शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर ज्ञानोपयोग करो, निर्मलताकी वृत्ति उत्पन्न करो।

सच जानो प्यारे! जगतमें तेरे ही रत्नत्रयके सिवाय अन्य कोई पदार्थ

व अन्य कोई भाव शरण नहीं हो सकता।

२४ अक्टूबर १९५७

आज ६ बजे पश्चात् हम सब राजपुरको चले शाम ४ बजे पहुचे। बहुतसे मनुष्य निश्छल भावसे चाहते हैं आत्मकल्याण, किन्तु कुल परम्परागत अथवा नैमित्तिक धारणावोसे अभिभूत होकर धारणानुसार हितका चित्रण होने लगता है। हित तो जिस विधिसे होता है उस ही विधिसे होगा। हित का उपाय अन्य नहीं है। स्वयंका सत्यस्वरूप समझना और उस ही सत्यस्वरूप की दृष्टि रखना। यह उपाय इस लिये अमोघ है कि हितके लिये तडप रहे किसीको तडफ विलीन करना है तडफ जिसमें है वही तडफ विलीन हो सकती है। जैसे समुद्रकी लहरें होती हैं तो समुद्रकी लहरें समुद्रमें ही विलीन हो सकती हैं। अत. स्वयका जानना अत्यावश्यक है।

स्वय चेतन है तब तो सुख दुखका अनुभव है। सुख दुखका अनुभव अचेतन कर नहीं सकता।

स्वयंको अचेतन माना जावे तब तो कल्याणकी बात अत्यन्त परे हो गई।

ॐ तत्सत्, ॐ शुद्ध चिदस्मि, सच्चिदानन्दरूपोऽहं है आदि किसके लिये कहे जाते हैं, वह सब मैं हूं।

इस निजतत्त्वकी खोज स्याद्वाद बिना नहीं हो सकती जैसे कि लौकिक तत्त्वोका निर्णय स्याद्वाद बिना नहीं हो सकता।

२५ अक्टूबर १९५७

स्वयंका स्वयमें परिणमन होता यह तो स्पष्ट अनुभवमे आ रहा है। मैं दु'खी हू तब तो मात्र अपने विपरिणमनसे तब सुखी भी हू तो अपने विपरिणमन से। हमें कुछ सुधार करनेके लिये अपनेमें ही कुछ करना है, जैसे कि बिगाड करनेके लिये अपनेमें ही सब कुछ करता रहा।

स्थान कुछ भी हो कहीं भी हो, अपना चित्त वश है और अपनी दृष्टि अपनी ही ओर है तो भला ही है। निज स्थानकी सभाल आवश्यक है।

अब तक जो हुआ सो हुआ, उसका सोच उत्थान न कर देगा।

अपनी विशुद्ध करतूत जो अब बनेगी वही उत्थानका कारण हो सकती है।

सरलतासे धर्मका उपाय करना है तो वह यही है कि कुछ भी परद्रव्य अपने चित्तमें न बसाया जाय। आत्मा जानना बन्द नहीं कर सकता, यह तो माना किन्तु अपना ही जानना बना लवे यह तो किया जा सकता चेतन है तभी तो वश चल सकता, अचेतन होता तो वशसे बाहरकी बात थी। एक दुष्ट घोडा है तो चलता तो रहता है, कुपथमें चल रहा है अभी उसे लगाम से वश कर लिया जाय मार्गसे चलने लगेगा। ॐ शुद्धं चिदस्मि।

२६ अक्टूबर १९५७

ससारमें कहीं भी तो सुख नहीं है। यह सब मोह, राग और द्वेषका प्रताप है। दुःख तो कहीं बाहरसे आता नही। केवल किसी भी पर द्रव्यमे आत्मीयता, हितबुद्धि कर ले वही आकुलता होती है, क्योंकि पर पदार्थको सत्ता इस आत्माके आधीन थोड़े ही है और यह आत्मा पर पदार्थमे नाना कल्पनायें करता रहता है। यही एक दुःख है। इतना दुःख मिटा ल तो फिर कहीं भी कुछ दुर्वेदन नही है।

सहजानन्द सम्वेदनका तो जीव स्वभावतः पात्र है। स्वभावपरिणमन का अपात्र तो विषयकषायकी रूचिसे बना जड न। विषयकषायकी रूचि स्वभावदृष्टि विना हुई।

कोई शङ्का करे कि क्यों स्वभावदृष्टि अब तक नहीं हुई तो उसका उत्तर सीधा तो यह है कि अब तो हो गई अब विषयकषायोसे हटनेकी प्रगति बनाओ।

सावधान होकर ६ माह भी सन्मार्ग पर निर्विघ्न निरन्तर चलता रहा जाय तो फिर शक्ति इतनी दृढ़ हो जाती है कि फिर विचलित होना कठिन है।

असावधान होकर यदि एक बार भी मनमें दुर्भाव आ जाय तो उसकी सन्तति और वृद्धिको रोकना भी कठिन है।

अतः ससारमें बड़े सम्हल कर चलना है। अपना सत्पथ निर्विघ्न बने यही सबसे उत्तम उच्च व्यवसाय है।

२७ अक्तूबर १९५७

आज देहरादूनसे वर्षायोग समाप्त करके चले, लोगोंका उत्साह बडा ही धर्मानुरागदर्शक है, माजरा वालोने रस्तेमे करीब ४०० नरनारियोको नाश्ता कराया। माजरा देहरादूनमे करीब २॥ मील है। सबको रोकते रोकते भी डाटकी सुरग तक जो कि ७॥ मील है, करीब १५० नर नारी आये। सबका सामूहिक भोजन भी था।

आहारके पश्चात् सामायिक करके २ बजेसे डाट सुरंगसे चले ४ बजे मोहएड आये, यह ग्राम डाटसे ७ मील है। यहा भी करीब १५ सज्जन आये। सायंकालिक भोजन करके चले गये।

देहरादूनसे मोहएड तक सुहावना जगल मिला बीचमें कई स्थान ध्यानके योग्य मिले। चित्तका पर पदार्थकी ओर झुकना ही विपत्ति है। ऐसा कहना समझाना आसान है और वह निरर्थक भी है, अनर्थक्रियाकारी है। जो निकटभव्य सर्व संकोच छोड़कर मात्र निज आत्मासे नाता जोडता है और गुप्त रहकर निजकल्याण कर लेता है उसका तो काम सार्थक है और शेष निरर्थक है।

बाह्य कौनसा तत्त्व अपना साथी है। समस्त बाह्य पदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, रंच भी तो सम्बन्ध नहीं है।

२८ अक्टूबर १९५७

आज मोहएडसे चलकर ७ मील पर विहारीगढ आये। यहा ऋजैनोंकी वस्ती है प्रातः ८॥ बजेसे प्रवचन हुआ।

जीवकी सर्व प्रथम गलती निजकी विभाव परिणतिमें व निबद्ध देहमें आत्मबुद्धि कर लेना है। इस गलतीके पोषण पर ही सब गलतियोका निर्वाह होता है। यदि मौलिक अपराध दूर हो जाय तो शाखा प्रतिशाखा रूप अपराध कब तक ठहर सकते हैं, उनका भी अभाव हो जायगा।

शामको ७ मील पर चलकर छुटमालपुर आये। यहा अजितप्रसाद जैन मिनिस्टरकी कोठी पर ठहरना हुआ। यहा श्री विशालचन्द जी खजाञ्ची एव स्पेशल मजिष्ट्रेट सहारनपुरका प्रबन्ध रहा। रात्रिमें ७॥ बजे प्रवचन हुआ।

सम्यग्दृष्टि जीवके परिग्रह नहीं माना गया है और न उपभोग माना

गया है। यद्यपि है, तथापि न के तुल्य है। इसका कारण यह है कि उपभोग ३ प्रकारके होते हैं (१) अतीत, (२) वर्तमान, (३) अनागत। सो अतीत तो गुजर ही चुके उसका ख्याल ही नहीं करता है, अतीतका मोह करना महा व्यामोह है। वर्तमान उपभोग तो तब परिग्रह कहाये जब वर्तमान उपभोगमें रागबुद्धिसे लगे। सम्यग्दृष्टि वर्तमान उपभोग भी करता है तो वियोगबुद्धि रखकर करता है। यह संकट टले, इसका पिण्ड छूटे आदि प्रकारक वियोग बुद्धि ही रहती। भविष्यकालीन उपभोग तो तब परिग्रह कहाये जब उसकी चाह हो सम्यग्दृष्टिके उसकी चाह ही नहीं होती।

सम्यग्दृष्टि आत्मा ही सच्चा वैभवशाली है।

२९ अक्टूबर १९५७

आज करीब ४। बजे रुडकी पहुचना हुआ, यहा अजैन समाजका भी महान् उत्साह दिखनेमें आया। उन्होने अपने भावके अनुसार चेष्टाकी उन्होने अपने अपने मुहल्लोमें सचित्त फूल मुझ पर कई जगह फैके। जिसका जैसा भाव होता वह उसके अनुकूल यत्न करता, चाहे वह किसीको अनुकूल न बैठे। वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि वह प्रति समय अपनी योग्यताके अनुकूल परिणमता रहे।

यहां जिज्ञासुवोंमे अजैनोकी भी संख्या अधिक है प्रवचन सभामें आधे जैन बन्धु और आधे अजैन बन्धुवोंकी सख्या रहती है।

मनुष्य भव पाकर यदि दुःखोंसे छूटनेका उपाय न बन पाया तो क्या किया ? कुछ नहीं।

जैसें लोकमे कहावत है कि पेड गिननेसे काम कि आम खानेसें काम, इसी प्रकार यह भी तो विचारो कि आनन्द पानेसे काम है कि जड़ वस्तुवोके गिननेसे काम है।

यदि आनन्द पानेसे ही काम है तो यह समस्या हल कर लो कि आनन्द क्या चीज है और वह कहासे, कैसे प्रकट होता है।

ये समस्त बाह्य पदार्थ अचेतन हैं, आनन्द गुणसे शून्य हैं उनसे आनन्द तो आ ही नहीं सकता। मैं आत्मा सहज ही आनन्द स्वरूप हू। और आनन्द भी मेरे आश्रयसे प्रकट होता है। आनन्दमें बाह्य वस्तु प्रयोजक

नहीं, प्रत्युत आनन्दके प्रतिबन्धक हैं। जब मोह रहता है तो प्रतिबन्धक भी प्रयोजक जैसा माननेमें आ जाता है।

२० अक्टूबर १६५७

बाह्य वस्तु कोई कितनी ही मनोहर लगे वह सब मोह राग प्रताप है। बाह्य वस्तुमें यदि वह अचेतन है तो वह उसके रूपका परिणमन है अजीव है वह जानकर करता ही क्या है, जाननेकी शक्ति भी नहीं है। यदि वह चेतन है उसमें भी एकेन्द्रिय है तो वह आतमूर्छित जैसी अवस्था है उसका रूप आकार आदि अचेतन जैसे है। यदि कोइ त्रस है उसमें मनुष्य भी हो तो क्या है मल मास खूनका पुञ्ज है, मल ही मल जिसमें भरा है। तब कौन वस्तु रागके योग्य है। सर्वसे राग छोडो, यदि कुछ सुहावना लगे उसमें पश्चात्ताप ही करो, क्योंकि वह सब मोहकी लीलामात्र है, भ्रम ही है।

किसी पर वस्तुके अवलम्बनसे आत्मन् तेरा भला नहीं होनेका। ससारको देखा नहीं, ये बैल खेतमें हलमें जुत रहे, कैसे पीटे जा रहे इन पीटने वालोको मानो यह भी पता नहीं है कि इनमें जान है मानो कुछ ऐसा ही समझते होंगे कि यह भी मशीन है और मशीनके चलानेका यह ही तरीका है।

ये बैल बिचारे पिटते जा रहे हैं इनमें ऐसा बल है कि ऐसे ऐसें दो चार किसानोको मार भगायें पर ऐसा नहीं कर सकते हैं।

ये देखो ५० के करीब भैसें हैं इन्हें यह ६ वर्षका बालक हाके जारहा है जिस चाहे उसको ललकार सुना देता है लाठी मार देता है। इनमे एकमें भी ऐसा बल है कि ऐसे ऐसे १०० बालकोको मार भगायें पर कर नही सकतीं ऐसा। भैया अगर नहीं चेते तो ऐसा ही तो होना पडेगा।

३१ अक्टूबर १६५७

रुडकी—यहा एक आर्य समाजी डाक्टर हैं रिटायर सिविल सर्जन। इनकी रुचि ज्ञान प्राप्तिकी अधिक है सच्चे जिज्ञासु हैं प्रति दिन प्रत्येक प्रवचनोमें उपस्थित होते हैं। भक्ति भी अपूर्व है। ये निष्पक्ष होकर सुनते हैं, अतः वस्तु स्वरूप हृदयमें बैठता जाता है।

कल्यानार्थियोको पहिले वस्तुस्वरूपका भली भांति निर्णय कर लेना

चाहिये । वस्तु एक उतनी होती है जिसका कभी भी टुकडा न हो सके, भेद न हो सके ऐसी वस्तु एक एक करि अनत तो जीव हैं अनन्त पुद्गल हैं, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असंख्यातकाल द्रव्य ।

प्रत्येक द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य करि सहित है । कोई पदार्थ ऐसा नही हो सकता है कि उसकी कोई दशा ही न हो । जो दशा एक समयकी है वही दशा दूसरे समयकी नहीं है, शुद्ध पदार्थमें समान समान दशायें प्रति समय चलती हैं । वहा व्यतिरेक नहीं मालूम होता है तथापि सूक्ष्म दृष्टिसे व्यतिरेक है क्योंकि प्रति समयकी नवीन नवीन दशायें हैं यदि ऐसा न माना जाय तो समय व्यतीत होनेका ही अभाव हो जायगा ।

आत्मा भी उत्पाद व्यय ध्रौव्यकार युक्त है । उपाधिवश इसकी वर्तमान मे समल दशा हो रही है किन्तु स्वभाव नहीं बिगड गया । अहा देखो कितनी विषमताओंका समागम इस मेलामें है । परिणति बहिरात्मत्वकी हो और स्वभाव अन्त.प्रकाशमान हो । मोह जीव देख भर नहीं पाता कारण परमात्मत्व तो सदा अन्त प्रकाशमान है ।

१ नवम्बर १९५७

ध्यान स्वच्छ रखनेका उपाय तो यह ही है कि डायरैक्ट शुद्ध आत्मतत्त्वका ध्यान करने लगो । पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है । आत्माका विशेष ता अनादिसे ही पहिचाना जा रहा है । बस भी सर्वस्वरूपसे पहिचाना जा रहा है ।

इन विशेषोंकी स्वीकारतासे अब तक ववाण्डर बना चला जा रहा है । विशेषको भूलकर केवल सामान्य दृष्टिसे सामान्यतत्त्वका अवलोकन करो निर्विकल्पता आवेगी ।

यहा यह प्रश्न किया जा सकता कि पदार्थ केवल सामान्यरूप तो है नहीं फिर केवल सामान्यका अवलोकन अप्रमाण ही रहेगा । उसका उत्तर यह है कि पदार्थको सामान्यविशेषात्मक जैसा है वैसा न मानकर केवल सामान्य रूप उसा ही समझे तो उस सामान्यतत्त्वके विज्ञान बलसे निर्विकल्पताकी ओर उपयोग झुकता है । यह अवलोकन तब अप्रमाण होता जब कि केवल सामान्यरूप वस्तुकी प्रतीति रखता है ।

ज्ञानी जीवका सामान्यतत्त्वकी ओर उपयोग रहता ही और क्यों प्रायः जाता है इस प्रश्नका समाधान केवल इतने शब्दोंमें हो जाता है कि जीवको प्रभुताकी ओर रुचि बनती है। जब अप्रभुताको प्रभुत्व मानता था तब अप्रभुताकी ओर रुचि रहती थी अब तत्त्वविज्ञानके कारण यथार्थ प्रभुको पहिचाना तब प्रभुकी ओर रुचि चलने लगी।

२ नवम्बर १९५७

सन्तोंका मन व्यापारनिवृत्तिके उत्साहमें निमग्न है, मोहियोंका मन परसंग्रह विषयसंग्रहके उत्साहमें निमित्त है।

जिसकी ओर एक बार परिणति जाने पर फिर प्रायः उस ही ओर सुविकसित हो जाती है। अच्छे याने कल्याणकी ओर बुद्धि एक बार क्या अनेक बार लगाने पर सफलता मिलती है।

निरन्तरका जनसहवास कल्याण मार्गका बाधक है। एकान्तवासमें न रहनेकी कमजोरी जबतक है तब तक इतना ही ठीक है कि भाषण प्रवचन, भजन आदिके प्रोग्रामोंमें सम्मिलित हो लेना। इसके अतिरिक्त अन्य समय भी सहवास रहा तो परिणामोंकी निर्मलतामें बाधा ही बाधा है।

एकान्त सवास तत्त्वविज्ञानीका हो तो उसका एकान्त संवास निभता रहेगा, क्योंकि वह वास भी ज्ञानके साथ है। तत्त्वविज्ञानीका एकान्तसवास चैतन्य चमत्कारकी वृद्धिमें सहायक है।

अपने आपकी परम दयाका प्रसाद तो यही है कि उसे अपने आपमें अकेलेमें रहनेकी प्रबल उत्साह हो जावे।

दिखने वाले लोगोंमेंसे कोई भी अपना सहायक नहीं है क्योंकि जो कुछ अपने पर आ पड़ती है वह अपनी ही परिणति, उसमें दूसरा क्या करे।

बाह्य जगतको अपनेसे भिन्न जानकर उससे उपेक्षा करो तो अन्तर्गत भी छूट जायेगा। अन्तर्गतको निज स्वभावसे भिन्न मानो तो बाह्य जगत् का छोड़ना सुगम हो जायगा।

३ नवम्बर १९५७

परम शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे सत्यार्थनय कहा है अथवा परमशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे जाना गया परमशुद्ध याने निरपेक्ष।

स्वतः सिद्ध स्वभाव सत्यार्थ कहा है इसी सत्यका एकान्त करे तो वह झूठ क्यों है अथवा मिथ्यावाद या एकान्तवाद क्यो है। यह आध्यात्मिक जगतमें रखा जाने योग्य गम्भीर प्रश्न है।

इस प्रश्नका हल करनेमे पहिले हमें अपना भी खुद विचार करना चाहिये कि हम आत्मा है या मन। हम यदि आत्मा हैं तो यह सोचे कि इस मुझ आत्माको दुःखका, विकारका अनुभव है या आनन्दका, शुद्धपरिणमन का अनुभव है। यदि दुःखका, विकारका अनुभव है तो हम आत्मा वर्तमान मे विकारी हो गये अब यह देखना है कि वह विकार केवल एक निजआत्मा के स्वभावके कारण ही प्रकट हुआ है या अन्य किसी उपाधिका सयोग पाकर ? यदि केवल निजस्वभावके कारण ही प्रकट हुआ है विकार तो वैसा वैसा ही विकार निरन्तर होते ही रहना चाहिये उसमें हीनाधिकता बिलकुल नहीं होना चाहिये। किन्तु, देखी जाती है हीनाधिकता। अतः निजस्वभाव के ही कारण तो विकार हुआ नहीं। उपाधिका संयोग पाकर हुआ तो कुछ परिणामों ऐसी निर्मलता शक्ति है कि उसके प्रसादसे उपाधिसे मुक्ति मिल सकती है। और ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर वह विकास प्रकट होता है जो परमशुद्धनिश्चयनयकी दृष्टिसे देखे गये परसत्यस्वरूपके अनुरूप होता है और फिर उस विकासमें न्यूनाधिकता नहीं होती है।

४ नवम्बर १९५७

परमब्रह्मका एकान्त माननेकी स्थितिमे क्रमशः प्रश्न यह है कि क्या हम मन हैं। यदि हम मन हैं और मन ही दुःखी है तो उस मनको ही मुक्ति दिलानी है। जो सत् होता है वह कभी समूल नष्ट नही होता है। मनकी मुक्ति होने पर मनकी क्या दशा रहती है यह इस प्रसङ्गमें उपप्रश्न हो जाता है। और विकल्प हो सकते हैं कि क्या मन निर्दोष हो जाता है या मनका विनाश हो जाता है या मन ब्रह्ममें या परमात्मामे लीन हो जाता है। यदि मन निर्दोष हो जाता है तो मन ही परमात्मा बन गया ऐसी अवस्थामें मन आत्माका पर्यायवाची शब्द रहा।

यदि कहो मन अचेतन है, आत्मा चेतन है, आत्माके प्रकाशमे मन चेतन सा बनकर दुःखका अनुभव करता था अब मन निर्दोष हो गया याने

अचेतन हो गया सो अब दुःखका अनुभव नहीं रहता। तो इसमे २ बातें हसी जैसी आती हैं कि चेतनका सम्बन्ध ही अपराध है। जिसका सम्बन्ध महान् अपराध है वह तो बडा दूषित ही होगा तो क्या यह ब्रह्म (आत्मा) ऐसा दूषित है। दूसरी बात यह आती है कि अचेत हो जाना ही वास्तविक धर्म है, मोक्षमार्ग है।

यदि कहो मनके विनाशका नाम मुक्ति है तो मन द्रव्य है या पर्याय याने किसीकी दशा? यदि मन द्रव्य है तो उसका कभी विनाश नहीं हो सकता। यदि मन पर्याय है तो किसका पर्याय है? चेतन द्रव्यका या अचेतन द्रव्यका? यदि चेतन द्रव्यका मन पर्याय है तो यह अर्थ हुआ कि चेतन द्रव्यकी विकारी मनपर्याय अब शुद्ध चेतन रूप होकर नष्ट हो गई। यदि अचेतनका पर्याय है तो यह अर्थ होगा कि अचेतनकी मन पर्याय मिटकर किसी अन्यरूप हो गया। अचेतन होनेका नाम मुक्ति बन गया। मन लीनके पक्षमें भी प्रायः ऐसे ही हाल है।

५ नवम्बर १९५७

आत्मासे सर्वथा भिन्न मनकी कल्पनामे और उस मनके ही ससार मोक्षकी कल्पनामें यदि ऐसा अभिप्राय जाय कि जब मन आत्मामें लीन हो जाता है तब मोक्ष हो जाता है। सो तत्त्व तो यह है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य मे लीन हो ही नहीं सकता। कितना भी घनिष्ट दो द्रव्योका सयोग हो जाय तो भी दोनोके दोनों परिणमन चलते रहेंगे वहा लीनपनेका कुछ भी अर्थ नहीं है।

अब हम अपनी मूल समस्या पर आये कि परमशुद्धनिश्चयनयकी दृष्टि से देखा गया परमपरिणामिकभावमय शुद्ध ब्रह्म शुद्ध ही है ऐसा एकान्त क्या हमारे कल्याणका बाधक है।

भाई! बात यह है कि मैं मन हू और आत्मासे भिन्न हू ऐसी प्रतीति होने पर गत आत्मामें लीन होना चाहे तो तीन कालमें भी लीन नहीं हो सकता है, क्योकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कभी भी लीन नहीं हो सकता है। मनके लिये आत्मा परद्रव्य है, परद्रव्यके ध्यानसे निर्विकल्पता कभी नहीं आ सकती है।

तो हम आत्मा हैं और प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेषात्मक हैं, अतएव एक मैं भी सामान्यविशेषात्मक हू मैं सामान्यस्वरूपको देखता हूं तो वह शुद्धस्वभाव है याने उसमें न किसीका मेल है और न निजस्वभावके कारण विकार है। यदि ऐसे निजस्वभावको देखूं तो हमारी विकारी पर्याय नष्ट होकर अविकारी पर्याय प्रकट हो जाती है। अत: अनेकान्तात्मक आत्मवस्तुको पूर्ण रीतिसे जानकर फिर ध्रुव स्वभावमें दृष्टि स्थिर कर लेना कल्याणका उपाय है।

६ नवम्बर १९५७

श्री पं० धरणेन्द्रकुमार जी एक सौम्यस्वभावी विद्वान हैं। रुडकीमें जैन पाठशालामें अध्यापनकार्य करते हुए करीब २२ वर्ष हो गये। एक स्थान पर धर्माध्यापन पर विद्वानका इतने दिन बना रहना ही इस बातका परिचायक है कि प० जी सरल निश्छल विवादसे परे रहने वाले व्यक्ति हैं।

आज उपवास सानन्द हो रहा है। भगवती आराधनाका देहकी असारताका वर्णन करने वाला यह प्रकरण विशेष लाभ प्रकट करता हुआ सुननेमें आया। इसके ये दो बाह्य कारण भी हो सकते हैं—एक तो जगलमें पढना और दूसरे उपवासका होना।

यह देह बडा बीभत्स है, यह इतना बडा होकर भी चिकना सुहावना होकर रज वीर्यका पिण्ड ही है। यह गर्भमें १० दिन तो रज वीर्यकी उसी आकृतिमें रहता है फिर १० दिन यह काला पडकर कुछ बढने लगता है फिर दूसरे माह स्थिर होता है, तीसरे माह मास पिण्ड बनता है चौथे माह हाड रुधिरकी रचना होती है पाचवे माह ५ पोदे फूटते हैं दो हाथके लिये, दो पैरोंके लिए १ सिरके लिये। छठे माहमें अङ्ग उपाङ्ग बनते हैं। सातवे माहमें सही चाम व रोम आदि प्रकट हो जाते हैं ८ वें व ९ वे माहमे इस ही की वृद्धि होती है। किसका ७ माहके बाद किसीका ८ माहके बाद किसीका ९ माहके बाद उदरसे बाहर निकलना होता है।

देहका प्रत्येक कण मलिन है। किन्तु मोही जीव ऐसे भी शरीरको पाकर देहासक्त रहते हैं। ज्ञानीकी दृष्टि देहसे भिन्न निज आत्मतत्त्व पर रहती है।

७ नवम्बर १६५७

आज अष्टान्हिका पर्वका अन्तिम दिन है, कुछ अजैनोंमें भी कार्तिक स्नान चला आ रहा था उसका भी आज अन्तिम दिन है। अष्टान्हिका पर्वमें ८ दिन चौबीसों घण्टे नन्दीश्वर द्वीपमें ५२ चैत्यालय चैत्योंकी पूजा देव देवेन्द्रों द्वारा होती है। इसीका रूप किसीने किसी रूपमें किसीने किसी रूपमें मनाया है। तड़के ही सुबह स्नानकर गान, भजन, कीर्तन, पूजन करना इन दिनों सर्वत्र प्रायः देखा जाता है।

व्यवहारधर्मका प्रयोजन निश्चयधर्मके अत्यन्त विरुद्ध कार्योंसे अलग हटाना है। यदि निश्चय धर्मकी ओर झुकाव नहीं होता है तो सर्व परिश्रम व्यर्थ है।

धर्म प्राप्तिके लिये वस्तुस्वरूपका ज्ञान प्रथम आवश्यक है। वस्तु विज्ञान बिना प्रशमभाव हो ही नहीं सकता। बाह्य वस्तुओंमें उपयोग रखे, आत्मबुद्धि करे और क्षोभका अभाव चाहे वह बबूल बोकर आम चाहनेके सदृश है।

धर्मका मर्म जान लेने पर जो भाव धर्मविकासके कारण हैं उन भावों को करते जाओ। धर्ममार्गमें चलते हुए भी अनेकों लोग अपनी कषायोंके अनुसार अपवाद करेंगे, किन्तु सोचो तो सही, उस अपवादसे बुरा होगा क्या? उस अपवादसे बुरा नहीं होगा। अपवाद सुनकर पर्यायबुद्धि करके स्वभावसे च्युत होकर ग्लानभाव करे उससे बुरा होगा।

आज श्री फतेलाल जी संघीने मुमुक्षुसत्सङ्गमें ज्ञानप्रभावनाकोषका उद्घाटन किया, उसमें १०१) भी दिये, अन्य भाईयोंने भी दिये।

८ नवम्बर १६५७

नरदेह तो वैराग्यके लिये मिला था किन्तु मोही उसे भी रागवृद्धिका साधन बना लेता। नरदेह वैराग्यके लिये मिला इसका सरल प्रमाण तो यही है कि सभी यह महा अशुचि, मल मूत्र मांस रुधिर अस्थिका पुञ्ज है और यह मृतक होने पर किसी काममें नहीं आता, इसका जलाना या गाड़ना ही लोकोंको अभय बना पाता। नवद्वारसे निरन्तर मल झरता है, अनेकों रोगों का यह कारण है।

नारकी और देवोंका शरीर तो मास अस्थिसे रहित है सो दुःख सुख चाहे उन्हें कैसा हो परन्तु वैराग्यका कारण वह शरीर नहीं बन पाता।

यहा शङ्का केवल तिर्यञ्चके लिये कर सकते हैं कि तिर्यञ्चोका भी तो शरीर मास अस्थिकरि निर्मित है यदि वैराग्यके लिये अशुचि शरीर बना तो उस शरीरमे तो यह बात नहीं घटती उत्तर यह है कि इस बातको जाचना ही है तो देखो लोकमें तिर्यञ्चोंके मल मूत्र भी बिलकुल अस्पृश्य हो सो बात नही है। इसी प्रकार उनके अस्थि चाम आदिमे भी मनुष्योके अस्थि चाम जैसी ग्लानिके योग्य लोकोको नहीं बनती है। उनके अस्थि चाम भी अन्तमे कामके रहते हैं लोक उन्हे व्यवहारमे लाते हैं। इत्यादि बातोसे वैराग्यके योग्य अति अशुचिता नरदेहमें मिलती है। सो नरदेहको वैराग्यका साधन बनाया जावे तब तो ईमानदारी है अन्यथा बेईमानीका फल तो दुःख ही है।

६ नवम्बर १६५७

आज रुडकीसे जानेका समाचार सुनकर यहाके समाजकी शोकमग्न मुद्रा देखकर मैं अवाक् सा रह गया। तो क्या सब कुछ घर बार, देश छोड़ने के बाद भी आजकल त्यागियोको यह सामना भी करना पडेगा।

यहांके जैन व अजैन भाइयोके धर्मानुरागको देखकर चित्त गद्गदता से भर जाता है। ऐसा विशिष्ट धर्मानुराग मैंने कही भी न देखा। अजैन बन्धुवोंकी इतनी निकटता होना रुडकीमें ही मिला। जैन सिद्धान्त कितना निष्पक्ष सिद्धान्त है इसे वस्तुस्वरूपकी पद्धतिसे न रखकर हमारा धर्म, जैन धर्म, जैनियोका धर्म आदि रूपसे रखने वाले स्वयं सत्यता व यथार्थ आनन्द से वञ्चित हो सकते हैं और दूसरोके लाभके भी घातक हो सकते हैं।

वस्तु धर्म, आत्मधर्मकी ही मेरे उपासना है। इसका पालनकर कोई भी निर्मल आत्मा, परमात्मा हो गया है वह विषयकषायोंके कुत्सित परिणामोसे बचनेके लिये मेरा उपास्य है और इस रीतिसे सावधानीका बल पाते ही वस्तु धर्म, आत्मधर्म मेरा परमोपास्य है।

हे ध्रुव स्वभाव! सदा दृष्टिपथगामी रहो। हे अशरण शरण! सदा तेरे शरणस्थ रहू।

हे अविकार चेतन्यस्वभाव! तेरी उपासनामें विकारको अवकाश ही

नहीं मिल सकता। अतश्च तेरी उपासना अविकारताके विकासका ही कारण है?

ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ। ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ। ॐ शुद्ध चिदस्मि।

आज रुडकीसे चलकर ६ मील पर मगलौर आये।

१० नवम्बर १९५७

मगलौरमें अजैनोंके भी काफी उत्साह दीखा कल रात्रिको प्रवचन था उसमें $\frac{1}{3}$ सख्या जैन बन्धुवोकी थी व $\frac{2}{3}$ सख्या अजैन बन्धुवोकी थी।

आज सुबह जैन मन्दिरमें प्रवचन चला।

गृहस्थ धर्मकेलिये कमसे कम इतना कर्तव्य तो होना ही चाहिये प्रत्येक घरके सभी सदस्य बूढे जवान बच्चे 'महिलायें' सब प्रात' सूर्योदयसे १ घण्टा पहिले अवश्य उठे और एक निश्चित कमरेमें एकत्रित हो। वहा छोटे बडों को प्रणाम व जयजिनेन्द्र करें और बडे छोटोंको जयजिनेन्द्र कहें। पश्चात् आत्मकीर्तन पाठ हो, पश्चात् ९ बार णमोकार मत्र पढ़ें। इसके अनन्तर जो मुख्य हो या शिक्षा देने योग्य हो वह १५-२० मिनट किसी पुस्तकके आधार पर या मौलिक शिक्षा देवे। पश्चात सब अपने अपने कार्योंमे व्याप्त न हो जावें। वहा भी सबसे पहिले यह काम है कि व्यायाम स्नानसे निवटकर भगवत्पूजा, वदना, स्वाध्याय करें।

यदि सूर्योदयसे १ घण्टा पहिले सब उठकर आधा घण्टा उक्त काम घर पर ही किया जावे तो उसमे इतने लाभ हैं—

(१) छोटे बडे सबका प्रेम, सौहार्दपूर्ण व्यवहार बनना।

(२) धार्मिकताके लिये उत्साह, प्रेरणा व शिक्षा मिलना।

(३) समस्त परिवारका संतोष व सहानुभूतिपूर्वक रहना।

(४) व्यसनादि कृत्योंसे सबका बचे रहना।

(५) आध्यात्मिकता व सद्विचारोंका पूरे दिन विकास रहना।

११ नवम्बर १९५७

आज प्रातः पुरकाजी आये, यहाँ यद्यपि ३ ही जैनगृहहैं परन्तु उस ग्राम

के मुख्य लोग हैं । यहाकी व आसपासकी जनताका भाव देखकर और उनके आग्रहसे शामके लिये भी रुक गये ।

मनुष्य कहीं हो किसी जगह हो, यदि आत्मभावनाकी बात कर लेता है तो वह वहा भी लाभमे है । इष्ट स्थानमे भी हो और आत्मभावनासे च्युत हो रहा तो यद्यपि वहा सहस्रो मुद्राओंका भी लाभ हो तो वह लाभ नहीं प्रत्युत आत्माको क्षति ही है ।

किधर भी रहो आत्मभावना न भूलो । मोक्षमार्ग सदा साथ है । ध्येय सदा साथ है तो ध्येय पूर्ति सर्वत्र हो सकते हैं । इसहीमें आनन्द है और आनन्द भी सहज आनन्द है ।

कैसा भी साधन हो कैसा भी समय हो कैसा भी सग हो, यदि भ्रमका समूल नाश हो गया तो उसे कहीं भी भय नही है । किन्तु कभी भ्रम ऐसा उपशान्त हो जाता कि यही अनुभव होता है कि भ्रमका समूल नाश हो गया परन्तु कारण पाकर उपशान्त भ्रम उदित हो जाता है । अतः पतनके निमित्त भूत साधनोसे हमे सदैव बचना चाहिये ।

१२ नवम्बर १९५७

आज प्रात पुरकाजीसे ७० मील पर छपार आये । दुपहर सामायिकके बाद चलकर ३॥ मील पर मिसोना आये ।

जीवन यो ही निकला जा रहा है । मनुष्य जीवनसे जीकर करना क्या है ? यदि भोजन और लौकिक मौज ही करना ज्ञात हो तो जिस चाहे जीवन से जीते रहते ।

मनुष्य जीवनका पहिला लाभ तो यह लेना चाहिये कि बुद्धिको तत्त्वज्ञानमें लगा दे । दूसरा लाभ यह ले कि मनको अपने विचारोमे लगाये, दूसरोकी भलाईके विचारमे मनको लगाये, किसीके अनिष्ट चिन्तनसे तो मनको अत्यन्त दूर रखें । तीसरा लाभ यह ले कि वचनका ठीक सदुपयोग करे याने हित मित प्रिय वचन बोलें । चौथा लाभ यह लें कि तनका सदुपयोग करे अर्थात् परसेवामे अपने सब कामोमे शरीरको लगायें इस शरीरसे अधिक से अधिक काम करायें । पाँचवा लाभ यह लें कि धनका सदुपयोग करें, जो धन पाया है उसे अनेकोके लाभके लिये समझकर दुःखियोकी सेवामे लगाये,

सर्व दुःखोंकी शान्तिके कारणभूत ज्ञानकी प्रभावनाके लिये साहित्यप्रकाशन साहित्यवितरण विद्वत्सेवा मन्दिर व्यवस्था भाषणप्रबन्ध आदिमें धनका व्यय करें।

मनुष्यको धन तन वचन मन प्राप्त हुआ है यह तो मिट ही जावेगा इसका सदुपयोग करके अपनी उन्नति कर लो।

बुद्धि भी यहा सुव्यवस्थित मिली। यदि इसका सदुपयोग न किया तो यह भी स्थिति न रहेगी।

१३ नवम्बर १९५७

आज प्रातः सिसोनासे ५॥ मील पर मुजफ्फरनगर आये। सभी भाइयों का उत्साह परिचित त्यागियोंके अनुराग जैसा था। किसीके स्वागतमें होने योग्य सभी प्रकारका साज करके भी आडम्बर न था।

मनुष्य भवका महत्त्व इन्द्र भवके महत्वसे भी अधिक है। जिस उपभोगमें किसी भी प्रकारके विषयकी वासना हो वहा अनाकुलता और पवित्रता कैसे हो सकती है।

विषयवासनाका विजयी मनुष्य ही क्यों हो सकता है उसमें भी कर्मभूमिका मनुष्य ही क्यों हो सकता है? इसका यह कारण है कि जहां इष्ट वियोग, देहरोग, अकाल मृत्यु सभव है तथा मन श्रेष्ठ है वहा वैराग्यकी सिद्धि हो सकती है।

भोगभूमिके मनुष्योंमें उक्त बातें सभव नहीं तथा देवोंमें उक्त बातें सभव नहीं हैं अत' वैराग्यका जमाना नहीं बन सकता।

आज ला० दीपचन्द जी जैन देहरादून वाले आये। ये बहुत ही सज्जन पुरुष हैं। धार्मिकता भी पूरी तौरसे भरी हुई है श्रेष्ठता तो इसी बातमें है कि लौकिक सुखसाधनोंकी समग्रता होते हुए भी उनसे उदासनता बनी रहना।

विकल्पोंकी भरमारको तो सदा सचेष्ट रहना और कदाचित् धर्म करने की इच्छा जगे तो धर्मकार्यको अब कुछ दिन बाद करूंगा ऐसी टाल करते रहना लाभकी बात नहीं है, क्योंकि ऐसी टाल टालमें ही कदाचित् जीवन समाप्त हो जाता है और धर्मकार्यकी बात कल्पनामें ही रह जाती है।

जिनके धर्मकी इच्छा ही नहीं है उनकी महिमा तो विलक्षण ही है।

१४ नवम्बर १९५७

प्रशंसाका चक्र सब चक्रोंसे कठिन चक्र है, इसका विजय करना अति कठिन है। विपदाका मूल यह चक्र है। आत्माका घात करने वाला यह चक्र है। प्रशंसाके प्रवाहमें अपने प्रभावको नहीं बहा देना ही उदारता है।

प्रशंसामें आकर धन व्यय कर देना, परसेवा कर देना उदारता नहीं है, किन्तु प्रशंसासे चित्तको क्षुब्ध न करना तथा सत्य स्वदया एवं परदयाका वर्तन रखना उदारता है।

कृपा तो निजमें विराजमान ईश्वरकी ही तो उससे उद्धार ही उद्धार होता चला जाये। ईश्वरका प्रसाद ही ईश्वरकी कृपा है। प्रसन्नताको प्रसाद कहते हैं। निर्मलताको प्रसन्नता कहते हैं। कोई भी मल न होनेको निर्मलता कहते हैं। चैतन्यतत्त्वमें कोई मल नहीं है मात्र उपाधिवश मलका आविर्भाव है। सो स्वयं मल रहित चैतन्य तत्त्वका दिख जाना ही पहिला प्रसाद है।

शान्त दृष्टा रहो, तुम न किसीका सुधार कर सकते और न बिगाड़ कर सकते। तुम्हें यदि दूसरेको सुधार पर लाना है और बिगाड़से बचाना है तो उसका उपाय मात्र यह है कि पहिले तुम ही सुधर जाओ, गम्भीर, धीर व शान्त दृष्टा हो जाओ, फिर तुम्हारी सहज चेष्टा अथवा दर्शनको निमित्तमात्र पाकर ही जिनका होनहार अच्छा है वे स्वयं सुधर जावेंगे व बिगाड़से बच जायेंगे।

इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, धन कम हो जाना, लोगोंका प्रतिकूल होना आदि निरन्तिया तेरे सुहाग हैं। ये सुहाग जिन्हें नहीं मिलते ऐसे देव भोगभूमि या आदि जीव अनन्त आनन्द पानेके पात्र नहीं होते।

१५ नवम्बर १९५७

भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोगरूप होती है। उसमें लब्धिरूप भावेन्द्रिय के कारण तो द्रव्येन्द्रियकी रचना होती है। फिर द्रव्येन्द्रियके कारण उपयोगरूप भावेन्द्रिय होती है। लब्धि ज्ञानावरणके क्षयोपशमको कहते हैं।

इस समय हमारे लब्धि और उपयोग दोनों प्रकारसे भावेन्द्रिय हो रही है।

इन्द्रिय शब्दका जो व्युत्पत्त्यर्थ है उससे साक्षात् भावेन्द्रियका ही ग्रहण होता है। क्योंकि इन्द्रियका अर्थ है इन्द्रस्य लिङ्गम् इन्द्रियम्। इन्द्र याने आत्मा, उसका जो चिन्ह है उसे इन्द्रिय कहते हैं। यहा झट पहिचान जाने जा सकने वाले चिन्हसे प्रयोजन है। आत्माका चिन्ह ज्ञानका विकास है? ज्ञानके विकासोंमें स्पर्शनज्ञान, रसज्ञान, गन्धज्ञान, रूपज्ञान, शब्दज्ञान, व अनेक सकल्प विकल्पोका ज्ञान सुगम समझमें आने योग्य हो रहा है। ये सब भावेन्द्रियके उपयोग है। इस प्रकार इन्द्रिय शब्दसे भावेन्द्रियका ग्रहण होता है। इस भावेन्द्रियकी लब्धि शक्तिके निमित्तसे द्रव्येन्द्रियकी रचना होती है इस कारण तथा शरीरेन्द्रियके निमित्तसे भावेन्द्रियका उपयोग होता है इस कारण द्रव्येन्द्रियको भी इन्द्रिय कह दिया है।

आज कल प्राय. सर्व साधारणका इन्द्रिय शब्दसे द्रव्येन्द्रिय पर ही लक्ष्य जाता है। ये सब इन्द्रिया विकार हैं, आत्माका स्वरूप तो अतीन्द्रिय है। ॐ तत् सत्।

१६ नवम्बर १६५७

हिम्मत ऐसी होना चाहिये कि जगत कैसा प्रतिकूल परिणमे किन्तु अपनेमें कषाय न जगे।

आरामसे कहीं रहते हुए चाहे मन माने कि यहा मैं बहुत शान्तिसे हू, धर्मसाधन भी मेरा ठीक है। किन्तु, वहा भी कर्मबन्धन कितना हो रहा है यह जानकारी तो प्रतिकूल परिस्थिति होने पर होने वाली -परिणातसे समझा जा सकता है। अत बाह्य समागमोसे गुजर जाना भी एक अपनी उन्नतिका सहयोग है।

सज्जन पुरुष न बिगडते हैं, न रिसाते हैं। बिगडने वाले और रिसाने वाले हृदयके मलिन होते हैं, उनका समागम फलप्रद नहीं होता। अत मलिन पुरुषोका संग तो छोडना चाहिये किन्तु यदि कारणवश छोडनेमें विलम्ब भी करनेकी आवश्यकता देखी जाती हो तो वहा भी धैर्य ही रखना उत्तम है।

बुद्धिमान लोक क्षोभकी प्रशसा नहीं करते। जैसे जुवारी जुवारियोकी

प्रशसा करते हैं वैसे लुब्ध लोक लोभकी प्रशसा करते हैं। लोभमे आनन्द नही है। आनन्द आत्म गुणानुरागमे है।

१७ नवम्बर १९५७

सुख सदा आत्मासे ही प्रकट होता है। चाहे मुक्त जीव हो चाहे ससारी जीव हो उसको आनन्द उससे ही प्रकट होता है।

स्वयं सुख रूपसे परिणमते हुए जीवको विषयसाधन क्या करे? विषयसाधन सुखके लिये व्यर्थ है। मोहियोने विषयोको सुखका साधन माना है। यह मोहियोकी कल्पना है।

जैसे नाबालिगकी करोड रुपयेकी जायदाद कोर्ट करके ५००) मासिक उसके खर्चके सरकार देती है तो जब तक वह अबोध है तब तक वह सरकार के गुण गाया करे तो गाया करे कि सरकार बडी कृपालु है मुझे बैठे बैठे ५००) मासिक दे रही है, परन्तु ज्योही उसे असलियतका पता लग जाता है कि सरकारने करोड रुपयेकी मेरी जायदाद छीन ली है उसके बदले यह ५००) मुझे देती है, इस बोधके होते ही वह ५००) का राग छोड देता है और इन ५००) के लेनेको अपनी जायदादकी प्राप्तिका बाधक समझता है। इसी कारण ५००) का नकार करके सरकारसे अपनी सब जायदाद वसूल कर लेता है। वैसे कर्माविष्ट मिथ्यादृष्टि, नाबालिग आत्माकी अनुपम अनन्त ज्ञान आनन्दमय जायदाद कर्मने कोर्ट करली है, उसके एवजमें विषयोंके प्रसंग जुटाकर कर्म इन्द्रियसुखमें ही नाबालिग आत्माको बहका रहा है। किन्तु जब आत्मा बालिग हो जाता है याने सम्यग्दृष्टि हो जाता है तब पुण्य सरकारके कारण प्राप्त सामग्रीका राग छोड़ देता है और इन प्राप्त विषयोके उपयोग को अपनी अनन्तविभूतिकी प्राप्तिका बाधक मानता है। इसी कारण विषयो का नकार करके अपनी अनन्तज्ञान दर्शन सुख शक्तिमय विभूतिको वसूल कर लेता है।

१८ नवम्बर १९५७

आत्माका आत्मा ही गुरु है, यही एक अपने आपको जन्मको ले जाता है और यही एक अपनेको निर्वाणको ले जाता है।

इस आत्मामे स्वयं ऐसी कला है और पुद्गलमे भी स्वयं ऐसी शक्ति

है कि जिसके कारण निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बन रहा है और दोनों मलीन हो रहे हैं।

लोग हठ करते हैं, करें, जब तक उनके पुण्यका उदय है, उन्हें विनश्वर बल मिला है, करलें मन मानी। परन्तु, जब यह काग वियुक्त होगा तब हठ नहीं चलेगी कि मैं अब थोडा नहीं बनना चाहता हू या नर्क नहीं जाना चाहता हू आदि।

रंच भी हठ न करो जो विवेकका न्याय हो सो करो।

हे परमपारिणामिक भाव! तेरी भक्तिमे यह नियम करूं कि छोटीसे छोटीसी बातका भो मैं हठ न रखू गा।

दूसरेकी हठ रख रखकर त्यागनेको निरभिमानी रखनेका अभ्यास करो। यदि विवेकमें वह हठ ठीक न उतर तो न मानो।

किसी भी स्थितिमें स्वयका अपमान महसुस न करो। अपमान तो तुम्हारा प्रतिपल हो रहा है वह है परोपयोग सम्बन्धी, उसे दूर करो यदि दूर करन बन सके। ऐसा मत करो कि गधासे न जीते कुम्हारीके कान मरोर दिये।

१६ नवम्बर '१९५७

आज ३। बजेसे नई मण्डी मुजफ्फरनगर चलनेका प्रोग्राम है।

विहार सर्वत्र चिन्ता रहित हो तो वह विहार है अन्यथा व्यवसाय याने व्यायाम है। व्यायाममे क्या लाभ है, लाभ तो आराममें है और वह भी सच्चे आराममे है।

जैसे सरकारी कुर्सी पर बैठे हुए की स्थितिमें जो वायदे किये गये जो देश विदेशका सम्पर्क किया, सरकारी कुर्सी छूटनेके बाद उसका उत्तरदायित्व नहीं रहता, उसका फल भोगनेको बाध्य नही रहता वह। वैसे ही अज्ञान अवस्थामें बाधे हुए कर्मोंके फल भोगनेका उत्तरदायित्व ज्ञान अवस्था होने पर नहीं रहता है।

अज्ञानमे बाधे हुए कर्म अज्ञानमें ही फल देनेमें समर्थ हैं। ज्ञानी जीवको अज्ञानबद्ध कर्म फल देनेमे असमर्थ है।

समस्त कर्म फलोंको औपाधिक देखकर उनकी उपेक्षा करने और इसी कारण मन वचन कायकी क्रियाके रुकनेसे चैतन्यस्वभावके अनुभवसे जो

आनन्द प्राप्त होता है वह अनुपम है। ऐसे ही आनन्दमें वर्तते हुए मेरे सर्व समय वीतो। ॐ शुद्धं चिदस्मि।

३० नवम्बर १९५७

७ दिसम्बर तकके लिये प्रोग्राम मुमुक्षु सत्सङ्गके मुमुक्षुवोंका प्रोग्राम

४	४–३५	आत्मकीर्तन शास्त्र सभा
४–३५	५–१०	स्वतन्त्र स्वाध्याय
५–१०	६–३०	सामायिक
६–३०	७–५	पर्यटन, शौचनिवृत्ति
७–५	७–४०	स्नान व्यायाम
७–४०	८–१५	देवदर्शन पूजा वंदना
८–१५	८–५०	प्रवचन
८–५०	९–५	विश्राम
९–५	९–४०	शास्त्र सभा
९–४०	१०–१५	आरम्भ सेवा
१०–१५	१०–५०	भोजनशालामें प्रथम प्रतिभोज
१०–५०	११–२५	भोजनशालामे द्वितीय प्रतिभोज
११–२५	११–३५	विश्राम
११–३५	१२–२५	सामायिक
१२–२५	१	लेखन
१	१–३५	पाठशाला
१–३५	२–१०	पाठशाला
२–१०	२–४५	पाठशाला
२–४५	३	विश्राम
३	३–३५	शास्त्रसभा
३–३५	४–१०	चर्चा समाधान
४–१०	४–४५	जलपानादि
४–४५	५–२०	पर्यटनादि
५–२०	६–१०	सामायिक

६–१०	६–४५	स्वतन्त्र स्वाध्याय
६–४५	७–२०	शास्त्रसभा
७–२०	७–३५	चर्चा
७–३५	८–१०	सभा भजनादि
८–१०	८–४५	प्रवचन
८–४५	६	भजनादि

पश्चात् विश्राम शयन

मौनका समय

प्रात ५ से ६–२० तक

दुपहर ११–३५ से १२–४५ तक

साय ५–२० से ६–४० तक

यह प्रोग्राम मुमुक्षुसत्सङ्गमें रहने वाले मुमुक्षुवोका है।

२१ नवम्बर १६५७

स्वाद पदार्थोंमें नहीं है, यह जीवकी कल्पनामात्र है। हा रस पदार्थमे किन्तु उसका स्वाद आ जाये यह बात पदार्थकी नहीं है। तभी तो पित्त र वालेको मीठा स्वादिष्ट नहीं लगता, विरक्त महात्माको कोई भी भाजन ादिष्ट नहीं लगता।

अब तुलनाकी बात देखिये—ताजी भुनी हुई मूङ्गफलीका स्वाद कभी जुबाँसे भी अच्छा लगता हे किन्तु यह मालूम होते ही कि काजू तो ५) सेर मूगफली ॥) सेर हैं, तुरन्त स्वादु पुरुष कल्पना करने लगता है कि काजू गफलोसें अधिक स्वादिष्ट हैं।

इलाहाबादी अमरूद सेवसे भी स्वादिष्ट हो किन्तु भावके अन्तर जानने ोको सेव ही उत्कृष्ट मालूम होता है।

मिठाई खाते रहने पर अन्तमे दाल रोटी खानेको चित्त चाहता है वहा ल रोटी स्वादिष्ट लगती है।

बात तो यह होना चाहिये कि जिसकी जहा उपयोगिता हो वह वहा ादिष्ट लगना चाहिये।

आत्मीय शाश्वत निराकुल सहज आनन्दके अनुभवकर लेने पर विषयों

के आश्रयसे कल्पना किया जाने वाला सुख विरस लगने लगता है।

कुछ भी हो स्वाधीन बात आनन्दप्रद होती ही है।

२२ नवम्बर १९५७

आत्मा ज्ञानमय है व सुखमय है सो ज्ञान व सुखका आत्मामें तादात्म्य है फिर भी गुणोके स्वरूप भिन्न भिन्न हैं अतः ज्ञानमे सुखका तादात्म्य नही है।

चेतन द्रव्यके साथ चेतनके सब गुणोका तादात्म्य है अतः सब गुण चेतनात्मक हैं फिर भी ज्ञान, दर्शनके अतिरिक्त अन्य गुण न स्वयको प्रतिभासते हैं और न परको प्रतिभासते हैं अतः अचेतन हैं।

यदि एक गुण दूसरे गुणरूप हो जाय तो द्रव्य एक गुणरूप ही रह जायगा।

अभेदविवक्षासे आत्मा ज्ञानमात्र है, समन्वय इस प्रकार है—ज्ञानका जीवादिश्रद्धानस्वभावसे होना सम्यग्दर्शन है, ज्ञानका ज्ञानस्वभावसे होना सम्यग्ज्ञान है, ज्ञानका रागादित्यागके स्वभावसे होना सम्यक् चारित्र है।

स्वानुभूति है तो सम्यग्दर्शन अवश्य है, किन्तु जब जब सम्यग्दर्शन है तब तब स्वानुभूति हो ही हो ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन तो सदा रह सकता है, किन्तु स्वानुभव उपयोगरूप है सो स्व पर उपयोग हो तब स्वानुभव हो।

आत्माका शब्दार्थ है कि जो निरन्तर जाने इसमे भी सम्यक् रूपसे यह अन्डरस्टुड करलें तब इस अपेक्षामें आत्मा अन्तरात्माको ही कहा जाता है अथवा सामान्यरूपसे यह अन्डरस्टुड करलें तो आत्मा शुद्ध आत्मद्रव्यको कहते हैं। फिर पर्यायदृष्टिसे जो मलिन है वह जीव है और जो निर्मल है वह परमात्मा है।

२३ नवम्बर १९५७

नोकषायके साथ अनन्तानुबन्धी आदि जैसा Force मिलता है वैसे प्रबल नोकषाय हो जाते हैं।

अनन्तानुबन्धी आदिकी अपेक्षा न मिले तो नोकषायमे स्वयंमे वह बल नहीं।

मिथ्यादृष्टि जीवके सदा राग रहता है वह वैराग्यका पात्र नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीवके कदाचित राग भी हो तो उस रागसे भिन्न ध्रुव निजस्वभावकी रुचि होनेके कारण रागमें राग न होनेसे वैराग्यका पात्र है।

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य व माध्यस्थ्य भाव ये चारो परिणाम अनुकम्पामे भी गर्भित हो जाते हैं। किन्हीं भावके यत्नमें परके अनुकम्पाकी मुख्यता है तो किन्हीं भावके यत्नमें निजके अनुकम्पाकी मुख्यता है।

धर्मी जीवोका सत्सङ्ग संसारमें पार करा देनेमे विशेष कारण पडता है। सत्संग जयवंत होहु।

बाह्य समागम मिलें तब भी क्या, न मिलें तब भी क्या ! बाह्य सगको निमित्त पाकर काम, क्रोध, मान माया लोभ जिनके जागृत हो जाता है उन्हें इन विभावोकी निवृत्तिके लिये सत्सगकी आवश्यकता होती है।

मै द्रव्य हू, अपनी द्रव्यत्वशक्तिके कारण परिणमता रहता हू, जब मैं मलिन पर्यायका चोला पहिन लेता हू तब वहा परको निमित्त पाकर विभाव रूप परिणमन लेता हू। यह परपदार्थकी कला नहीं, मेरी कला है। जब पुरुषार्थ बलसें मैं अपनेमे सावधान रहनेका चोला पहिन लेता हू तब स्वभाव रूप परिणमता हू। यह भी मेरी कला है।

२४ नवम्बर १९५७

आज १ बजेसे चलकर ६॥ मील पर मसूरपुर ४॥ बजे पहूचे।

ज्ञानीजीव केवल आत्माका शुद्ध विकास चाहता है अत' उसकी बाहर कही आदरणीयरूपसे दृष्टि होती है तो आत्माके शुद्ध विकासरूप अवस्थाओ पर। इसी बुनियाद पर पञ्च नमस्कार मन्त्र बना है। णमोकार मन्त्र में पाच आत्मविकासोको नमस्कार किया है। इन पाच परमेष्ठियोमे किसीका भी नाम नहीं आया है, न तो किसी तीर्थङ्करका नाम है और न रामचन्द्र आदि किन्हीं अन्य परमात्माका नाम है। यद्यपि तीर्थंकर एवं रामचन्द्र हनुमान आदि महापुरुषोकी आत्मा निर्वाणको प्राप्त होकर भगवान बने हैं, तथापि इनका किन्हींका भी नाम नहीं है इस णमोकार मन्त्रमें। यह निष्पक्षता या अवैयक्तिकताका प्रबल प्रमाण है।

जिन गृहस्थोको वैराग्य हुआ है वे सर्व परिग्रह आरम्भ त्यागकर आत्म साधनामें दत्तचित्त हुए वे तो साधु हैं।

इन साधुवोमें जो बहुश्रुत याने बहुज्ञानी हैं व साधुवों को अध्ययन भी कराते हैं वे उपाध्याय हैं।

इन साधुवोमे जो एक प्रधान है जो कि शिक्षा दीक्षा आदि देकर उन से आत्माका पावण सस्कार के कारण है वे आचार्य हैं।

उक्त तीनो परमेष्टियोमे से जो भी निर्विकल्प परमसमाधिके बलसें ज्ञानादि गुणघातक कर्मोंके विलय हो जानेसे पूर्ण ज्ञाता द्रष्टा, आनन्दमय एव शक्तिमान हो लेते हैं वे अरहत हैं।

इन्ही अरहंतोकी आत्मा जब शेष अघातिया कर्म व उनके कार्य भूत शरीरादिसे सर्वथा छुटकारा हो जाता है तब इन्हें सिद्ध कहते हैं। ये आत्माके विकास हैं।

२५ नवम्बर १९५७

बहुतसे लोग कहते हैं कि बहुतसे झगडे तो भगवानने करा दिये जिन देशोमे लोग भगवान नहीं मानते वहा ये झगडे नहीं हाते हैं। इसका अर्थ यह समझना कि भगवानके विषयमें जो नाना कल्पनायें चली उन कल्पनावो ने झगडे फैला दिये। वैसे तो भगवानको न मानना नास्तिकता है। नास्तिकतासे आत्मसिद्धि नहीं होती।

भगवानके बारेमें विविध कल्पनाये इसलिये चलीं कि लोगोने भगवान ज्ञान, आनन्दाआदि गुणों पर ध्यान न देकर वे जिस शरीरसे गुजर कर भगवान हुए उस शरीर सम्बन्धी लीलावों पर ध्यान रखने लगे।

भगवन्! आप श्याम हो, त्रिशलानन्दन हो, अमुकवंशके हो आदि वचन भगवानकी स्तुति नहीं है यह सब व्यवहार वचन है। भगवानकी स्तुति तो वास्तवमें ब्रह्म विकासके इन ४ स्थानोकी असलियत बताकर की जा सकती है-(१) जितेन्द्रिय, (२ जितमोह, (३) क्षीणमोह, व (४) सर्वज्ञ।

(१) हे नाथ आपने इन्द्रियोंको जीत लिया था। इन्द्रिया कैसे जीती जाती हैं इसे जाननेसे पहिले यह जान लेना चाहिये कि इन्द्रियोंके उद्दण्ड होनेके थियेटरमें पार्ट लेने वाले क्या क्या हैं? ये ३ हैं-द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय

व विषयभूत पदार्थ। जिन लोगोंको जीतना है तो समर्थ व बुद्धिमान पुरुष एक सर्वोत्कृष्ट उपाय यह करते हैं कि उन लोगोंसे उपेक्षा व असहयोग कर देते हैं। प्रथम ही प्रथम असहयोग करनेके लिये किसी विशिष्टके सहयोगकी आवश्यकता होती है उसका सहयोग लेना चाहिये। इसी पद्धतिसे नाथ इन्द्रियोंके जीतनेके लिये आपने द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय व विषयभूत पदार्थोंसे उपेक्षा व असहयोग आन्दोलन किया था। इस असहयोग आन्दोलनकी सफलताके लिये जिसका सहयोग लिया जाय वह द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय व विषयोंके खिलाफ होना चाहिए। नाथ अपने अचेतन द्रव्येन्द्रियोंके विरुद्ध चित्स्वभाव का सहयोग याने अवलम्बन लिया, आपने खण्ड ज्ञानरूप भाव्येन्द्रियके विरुद्ध अखण्ड स्वभावका अवलम्बन लिया, आपने सगभूत विषयोके विरुद्ध असग स्वभावका अवलम्बन लिया। इस प्रकार असग, अखण्ड चित्स्वभावके सहयोगसे इन्द्रियोंसे असहयोग करके इन्द्रियोंको जीतकर जितेन्द्रिय हुए, पश्चात् जितमोह हुए फिर क्षीणमोह व फिर सर्वज्ञ हुए यह भगवानकी स्तुति है।

२६ नवम्बर १९५७

आज मसूरपुरसे १। बजे चले खतौली (६ मील पर) ३॥ बजे आ गये। समाधि, भक्ति और निष्काम कर्मयोग इन तीनोंका समावेश ज्ञानी सत्पुरुषमें होता है और समय समय पर इन तीनोंमे से कभी कोई मुख्य और कभी कोई मुख्य हो जाता है। पश्चात् उन्नति होते होते निष्काम कर्मयोग का तो विशुद्ध भक्तिमें विलय हो जाता है और पश्चात् उस भक्तिका भी समाधिमें विलय हो जाता है।

किन्तु जब तक बुद्धिपूर्वक राग रहता है तब तक मनुष्य यदि पाये हुए तन, मन, वचन व धनसे योग्य सेवाकर नहीं कर सकता है इतना लोभी एव आलसी हो जाता है वह तत्त्वज्ञानका पात्र भी नहीं है।

धन विनश्वर है, आत्मासे अत्यन्त भिन्न है फिर भी धनका इतना लोभ है कि धन बल होने पर दुःखी पडौसीको भूखा रहने दे अथवा धार्मिक कार्यकी आवश्यकता होने पर भी उसमें धनका सहयोग न दे इत्यादि प्रकारसे किसीमें खर्च न कर सके तो वह आत्मज्ञानका पात्र नहीं है।

वचन विनश्वर है आत्मासे अत्यंत भिन्न है फिर भी वचनका इतना

हठी एव दरिद्र बने कि गलत बात होने पर भी वचनकी हठ रखे व प्रिय, हित वचन न बोल सके तो वह भी आत्मज्ञानका पात्र नही ।

तन विनश्वर है आत्मासे भिन्न है फिर चेतनका इतना लोभ हो कि अपने या पर या दोनोंका कोई सेवा कार्य हो और उसे न कर सके, शरीरमें आपा बुद्धिकर उसे आराममे रखे तो वह आत्मज्ञानका पात्र नहीं है ।

मन विनश्वर है आत्मासे भिन्न है फिर भी मनका ऐसा व्यामोह हो सबका भला न विचार सके व अपना ही स्वार्थ व सुख विचारे तो वह भी आत्मज्ञानका पात्र नहीं है ।

२७ नवम्बर १६५७

गृहस्थमें हमें क्यो रहना है इस सम्बन्धका भी यथार्थ अभिप्राय बनावो ।

"यह ससार सर्व असार है यहा कुछ भी अपना नहीं है और न हित रूप है । यह सर्व परिग्रह जाल छोडकर शरणभूत निज ब्रह्मका ध्यान करना ही सत्य हित है इसके लिये इतने वैराग्यकी आवश्यकता है कि क्षुधा आदि बाधावोंके सहनका अवसर आ जावे तो आकुलता व असयम न हो । किन्तु मैं इतना विरक्त नहीं हो पाया और अभी प्राय छोड देना भी उत्तम नहीं है इसका फल है असंयम व अज्ञान वृद्धि, सो इसमें कोई हित नहीं है । अतः मुझे गृहस्थीमें रहना पडेगा ताकि जीवन निर्वाह भी हो और स्थूलहिसा, झूठ चोरी, कुशील व परिग्रहके पापसे बचकर समाधि, भक्ति और निष्काम कर्म-योगके आचरणसे मुक्ति मार्गका पथिक रहू" इस भावनाकेकारण घरमे रहने वाला गृहस्थ ज्ञानी है ।

मेरा घर है, मेरे बच्चे हैं, इनसे ही बडप्पन है, स्त्रीसे ही सुख है, घर में आराम है, यही मेरा सर्वस्व है इन सकल्पोके कारण घरमें रहने वाला गृहस्थ अज्ञानी है ।

घर दोनो रहते हैं, समागम दोनोका एकसा है किन्तु ज्ञानी गृहस्थ और अज्ञानी गृहस्थमें महान् अन्तर है ।

खतौलीमें बन्दर बहुत हैं । ये अपनी आजीविकाके ४ उपाय करते हैं— (१) राजनैतिक, (२) ब्लेक मार्केट, (३) डकैती, (४) एजेन्सी ।

२६ नवम्बर १६५७

इन्द्रिय विषयोके आधीन बनना असाधुता है और इन्द्रिय विषयोके आधीन न बनकर स्वाधीन रहना साधुता है।

इन्द्रिय विषयके भोगकी बुद्धि बेवकूफी है, क्योकि उस समय स्वस्थता नही रहती।

कषायोकी परिवृद्धिका कारण इन्द्रिय विषयेच्छा है और इन्द्रियविषयो की चाहका कारण कषाय है।

विषय और कषाय ये दोनो तो झौटे हैं, असमानजातीय पर्याय रथको विभाव बनमे लिये लिये फिरते हैं। इस रथके पहिये चतुर्गतिरूपी चार हैं। विभावनकी भटकनामे बचना है तो इस रथका आश्रय छोडो और सम्यग्ज्ञानके रथमे सवार होओ जिस ज्ञान रथके नय, प्रमाण, लक्षण, निक्षेप ये चार पहिये हैं और जिसको ले जाने वाले निश्चयनय व व्यवहारनय ये दो बैल हैं। इनका गमन समरसपूर्ण निजराज पथमे होता है।

समताकी गली सकरी है इस गलीके एक ओर तो रागका अथाह जल भरा है और दूसरी ओर द्वेषके गहरे गड्ढे बने हुए हैं। यदि सावधानीसे समता पर न चल सके तो विपदाका भोग नियमसे भोगना ही होगा, इसमें सदेहकी कोई बात नहीं।

मनुष्य जीवनसे जीकर करना क्या है? आहार, नींद, भय, मैथुन तो पशुत्रोके भी होता है, यही ध्येय है तो पशुपर्याय भी उसके लिये क्या बुरी। सच तो यह मनुष्य जीवनका प्रयोजक तो धर्मधारण है? यदि यह न किया तो मनुष्य जीवन तो पशु जीवनसे भी गया बीता है।

३० नवम्बर १६५७

आज खतौलीसे १ बजे चलकर ३॥ बजे दादरी आये। दादरी ग्राम खतौलीसे ४ मील पर है।

विहार भी आत्माके हितका साधक है। मनुष्यको सब जीवोंके प्रति यह भावना रखना चाहिये कि "सब सुखी हो"। सबके सुखकी चाहमें अद्भुत आनन्द है, सबके सुखकी चाहमे चैतन्य सामान्यकी झलक होनेका अवसर पाया जा सकता है, सबके सुखकी चाहमे लौकिक सुख भी अविघ्न रहते हैं,

सबके सुखकी चाहमें लोकों द्वारा भी वह आदेय रहता है।

धर्मके लिये यदि विशेष उपयोग बने तो यह तो जरूर ही किया जाना चाहिये कि सबके सुखी होनेकी भावना रखे।

साम्यभावके लिये जो चार भावनायें पूज्य श्री अमितगति आचार्यने बताई हैं उनमें प्रथम भावना मैत्री बताई है। मैत्रीका अर्थ है मित्रता। मित्रताका दूसरा अर्थ है दु:ख न चाहना। किसी भी जीवको दुःख उत्पन्न न हो ऐसी अभिलाषा होनेका नाम मैत्री है।

मित्रताकी भावनामें समता बनती है। समता ही जीवका कल्याण करने वाली है। समताके अर्थ जो कुछ त्याग करना पड़े, कर देना चाहिये।

सुख समतासे ही प्राप्त होता है। किसीका दु:ख विचारनेसे स्वयको लाभ तो है नहीं बल्कि निज योग्यता मलिन होती है जिससे वर्तमानमें भी क्लेश सहना पडता है भविष्यमे भी क्लेश ही भोगने होगे।

सर्व सुखी हो यह भावना भाई जानना चाहिये और किसीके दु:खकी चेष्टा नहीं करना चाहिये।

९ दिसम्बर १९५७

कल शाम दादरीमें अजैनोका समुदाय आया, श्री फतेहलाल जी सघी ने कवित्तों परसे उपदेश दिया और श्री प० मुख्त्यारसिह जी ने "सब सुखी हो" इस भावनाकी दृढताके लिये उपदेश दिया।

यह दादरी ग्राम एक सभ्य ग्राम है। सभ्यताका उदय अन्यायके त्याग से होता है। जहा अन्याय है वहा सभ्यता नहीं। जहा अन्यायका त्याग है वहा असभ्यताका प्रवेश नहीं।

जो अपनेको प्रतिकूल लगे वह दूसर पर न आजमाये, यही अन्यायका त्याग है। खुदसे कोइ झगटा करे वह अपनेको नहीं सुहाता तो अपना कर्तव्य है कि किसीसे कभी झगडा न करें। खुदकी कोई चुगली करे तो कितना क्लेश मानता है तो खुदका कर्तव्य है कि कभी भी किसीकी चुगली न करे। अपना कोई अपमान भरी बात कहकर अपमान करे तो कितना कष्ट अनुभूत होता है। होता है ना, तो अपना भी कर्तव्य है कि किसीसे भी अपमान कारक बात न कहें। अपने आगे कोई बडा बड़ा बनता फिरे तो उसे देखकर

अपनेको सुहावना नहीं लगता तो अपना भी कर्तव्य है कि दूसरोके आगे बड़े बडे न बनते फिरें।

अन्यायसे अनुवासित हृदय आत्मबलका पात्र नहीं। भले पूर्वकृत पुण्योदयके कारण प्राप्त हुए देहबल, धनबल, बुद्धिबलसे लोगोको सताले किन्तु हृदयबल भी प्राप्त नही कर सकता वह आत्मबलकी ता कथा ही क्या।

ससार दु खी है केवल विरुद्ध भावोंके कारण। विरुद्धता है वस्तु स्व-रूपके विरुद्ध कल्पनावोंके कारण। अत. जिन्हें दु'खसे छूटना हो उन्हें वस्तु स्वरूपके विरुद्ध विचारोंका त्याग करना चाहिये।

२ दिसम्बर १९५७

आज मेरठसे जगदीश प्रसादका पुत्र भूपेन्द्रकुमार सत्सङ्गके मुमुक्षुवोंके समान आदि ले जानेके अर्थ खुदकी मोटर लेकर आया साथमें प्रेमचन्द जो मिल वालोका पुत्र आया। इन दोनो किशोर कुमारको देखकर यह अन्तर्जल्प हुआ कि ये जैन धर्मके नये प्रवर्तक आये। ये दोनों बालक सभ्य और सदा-चारी हैं। धर्मके प्रति नैसर्गिक स्नेह है।

आत्माके ध्रुवस्वभावकी ओर जितना ध्यान हो उतना तो क्षण सफल है, क्योंकि इस उपयोगमें धर्मकी अनुवासना है। आत्माके इस एकत्वकी ओर जो उपयोग लग जावे वह उपयोग धन्य है। जिस क्षेत्रमें यह काम बने वह क्षेत्र उपचारसे धन्य है, जिस कालमें यह काम बने वह काल भी उपचारसे धन्य है। इस निर्विकल्पसमाधिसे पूर्व होने वाले शुभोपयोगोमें जिनका सत्सग जिनका उपदेश निमित्त बना वे भी धन्य हैं।

इस जगतमें अन्य सब भाव असार हैं केवल निज चैतन्यमात्र प्रभुत्व का आश्रय करने वाला भाव सार है। धर्मके लिये अन्य कुछ परिश्रम नहीं करना है, मात्र करना भी कहो तो या यह कहो कि निज आत्मामें रमण करना है, आराम करना है या यह कहो कि कुछ नहीं करना है।

हे आत्मन्! अपनी शक्ति निहारो और शक्तिके अनुसार बढ़े चलो।

आजकल लोग शक्तितस्त्यागका यह अर्थ जल्दी कर लेते हैं कि शक्तिके माफिक काम करो याने शक्तिके भीतर काम करो, याने शक्तिसे ज्यादह त्याग करनेकी बेवकूफी न करो, परन्तु साथ यह भी एक गजब है कि

सबको शान्ति पहुँचे [illegible] चाहिये । सब [illegible] न करके सब [illegible] करना चाहिये कि [illegible] आत्मा [illegible] करो, शान्ति न [illegible], [illegible] नहीं [illegible] ।

३ दिसम्बर १९५७

आज ३ बजे [illegible] ३ बजे [illegible] दिया ।

मनुष्यका [illegible] चारित्र ही एक [illegible] है । चारित्रकी भावनामें [illegible] शीघ्र हो जाता है ।

पाँच पापोंका त्याग होना ही वास्तव चारित्र है । अपने द्वारा किसी पर कोई आघात न हो या न करे यही हिंसाका त्याग है । किसीकी चुगली, निन्दा व अहितकारी बात न कहना झूठका त्याग है । किसीकी वस्तुका बिना उसकी आज्ञाके स्वीकार न लेना चोरीका त्याग है । काम विकार भाव न लाकर वीर्य रक्षा करना कुशीलका त्याग है । परिग्रहकी तृष्णा व परिग्रहमें हित बुद्धि न करना परिग्रहका त्याग है ।

यह जीव अपने योग व परिणामके कारण औदारिक, वैक्रियिक, आहारक तैजस, भाषा, मन व कार्माण वर्गणा इन ७ प्रकारके वर्गणाओंको ग्रहण करता है । अनेक अपेक्षाओंसे इनके क्रम निराले हैं—

उत्तरोत्तर अवगाहना इस क्रमसे असंख्यात गुणी हैं—कार्माण, मन, भाषा, तैजस, आहारक, वैक्रियक, औदारिक ।

प्रदेश संख्या उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी व अनन्तगुणी इस क्रममें है– औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, भाषा मन कार्माण ।

४ दिसम्बर १९५७

इस आत्माके साथ परपदार्थोंमें से जितना निकट बन्धन कर्मोंका है उतना बन्धन शरीरके साथ नहीं है । यह बात मरणके बादकी दशासे तो स्पष्ट जान ही ली जाती है, फिर भी जब तक शरीरमें है तब तक ऐसा मालूम हो सकता है कि कर्मकी भांति ही तो शरीरका बन्धन है, परन्तु निम्नलिखित प्रकारसे देखो तब सही बात मालूम हो जायगी कि शरीरमें आत्माके रहते हुए

भी आत्माके साथ शरीरका इतना निकट बन्धन नही है जितना कि कर्मके साथ है।

शरीर सहित अवस्था मे आत्माके प्रदेशोका परिस्पन्द चलता रहता है आत्मा आत्मामें आत्मप्रदेशोसे चक्कर लगाता रहता है उस समय आत्म प्रदेशोके साथ कर्म तो उसी प्रकार चक्कर लगाते रहते हैं, हलन चलन करते रहते हैं, किन्तु शरीर वैसा चक्कर नहीं काटता।

यदि कुछ मोटे रूप मे उदाहरण रखा जावे तो यह रखा जा सकता है, जैसे कि घडे मे गन्दा जल रखा है जल जल में ही कुछ चक्कर काटे, हलन चलन करे तो उसके अनुसार गन्दगीके सूक्ष्म कण तो चक्कर काटते हैं परन्तु घडा चक्कर नहीं काटता है। फरक उसमें केवल इतना ही आता है कि घड़े के अवयव रूप मिट्टी में जलका एक क्षेत्रावगाह नही है व घडेके अवयवोके बाहर जल है किन्तु आत्मा प्रदेशोका अवगाह शरीरके अवयवो मे है। इस उदाहरणसे भी अच्छा उदाहरण वैज्ञानिक प्रयोगके किसी पदार्थ मे मिल सकता है।

५ दिसम्बर १९५७

औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर, आहारक शरीरकी वर्गणाये तो पॉच प्रकारके रूप, आठ प्रकारके स्पर्श, दो प्रकारके गन्ध व पाच प्रकारके रसवाली हैं, परन्तु तेजस शरीर, कार्माण शरीर, भाषावर्गणा व मनोवर्गणायें पाच प्रकार के रूप दो प्रकारके गन्ध, पाच प्रकारके रस व चार प्रकारके स्पर्श वाली हैं। इन चार प्रकारकी वर्गणाओ मे जितना कि बन्धनबद्ध स्कन्ध है उसमें यदि स्निग्ध परमाणु हैं तो स्निग्ध ही सब हैं, यदि शीत परमाणु हैं तो शीत ही शीत सब हैं, यदि मृदुपरमाणु हैं तो मृदु ही मृदु सब हैं, यदि लघु परमाणु हैं तो लघु ही लघु सन हैं। इसी प्रकार रूक्ष, उष्ण, कठोर व गुरु में भी लगाना चाहिये।

६ दिसम्बर १९५७

संयम और व्रत में संयमका स्वरूप उत्कृष्ट है क्योंकि संयम तो उसे कहते हैं जो महाव्रत और अणुव्रत समितिके साथ हों तथ व्रत मात्र उसे कहते हें जो महाव्रत और अणुव्रत समितिके साथ न हो। संयम तो व्रत आ

ही जाता है किन्तु व्रत में संयम आवे या न आवे दोनो बातें हो सकती हैं।

अन्तरङ्गका मर्म जितना गहन है उतना ही सरल है।

जीवत्व, भव्यत्व व अभव्यत्व ये पारिमाणिक भाव कहे हैं वस्तुतः तो दशाओंको यथा सम्भव धारण करनेसे जीवत्व है तथा असिद्धिभाव अनादि अनन्त रहे वह अभव्यत्व है और असिद्धभाव अनादि सान्त रहे वह भव्यत्व है। असिद्धिभाव औदयिक है क्योंकि वह अघातिया कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होता है इसी सम्बन्धके कारण भव्यत्व व अभव्यत्व भाव विपाकज है। इन तीनोंको पारिणामिक भाव कहना उपचारसे है।

इसी कारण सिद्ध प्रभुमें न जीवत्व है, न भव्यत्व है, न अभव्यत्व है। हां चैतन्यभावका नाम जीवत्व रखो तो सिद्ध प्रभुमें जीवत्व कह लो।

यही एक मर्मकी बात है तभी तो अनेक जगह यह प्रसिद्धि है कि परमात्मा और जीव पृथक् पृथक् हैं।

परमात्मा चेतन तो है, किन्तु जीव नहीं है।

५ दिसम्बर १९५७

जैसे कर्मरूप होने योग्य कार्माण वर्गणायें ही कर्मरूप बनती हैं, अन्य वर्गणायें नहीं, वैसे उन कार्माण वर्गणाओंमें भी यह भेद है कि जो ज्ञानावरण होने योग्य कार्माण वर्गणायें हैं वे ही ज्ञानावरण रूप होती हैं, जो वेदनीय कर्मरूप होने योग्य कार्माण वर्गणायें हैं वे वेदनीय कर्मरूप होती हैं जो आयुकर्मरूप होने योग्य कार्माणवर्गणायें हैं वे आयुकर्मरूप होती हैं, जो नामकर्मरूप होने योग्य कार्माण वर्गणायें हैं वे नामकर्मरूप होती हैं, जो गोत्र कर्मरूप होने योग्य कार्माण वर्गणायें हैं वे गोत्र कर्मरूप होती हैं, जो अन्तराय कर्मरूप होने योग्य कार्माण वर्गणायें हैं वे अन्तराय कर्मरूप होती हैं।

आत्माके कषायभावको निमित्त पाकर उस उस प्रकारके परिमाण वाली विभिन्न कार्माण वर्गणायें बंधती हैं इसीको इस रूपमें कह दिया जाता है कि बंधनेके समयमें कर्मोंका बटवारा हो जाता है कि ज्ञानावरणकी कितनी वर्गणायें हो गईं और मोहनीयकी कितनी वर्गणायें हुई व वेदनीयकी कितनी वर्गणायें हुई इत्यादि।

पुद्गलोंकी भी जातीयता व परिणमन पद्धति विचित्र है। जीवकी

परिणितियां अनोखी होती हैं तो पुद्गलकी भी परिणतियां उससे कम अनोखी नहीं हैं। चेतन होनेके कारण कोई पक्ष करे वह बात उनकी अलग है।

८ दिसम्बर १९५७

निगोद सब जीवोंका आदि स्थान है। यह पर्याय सर्व पर्यायोमें निम्नतम है। इन जीवोंकी आयु अन्तमुहूर्त है जो साधारणतया एक सेकिन्ड के प्राय. इक्कीसवें भाग प्रमाण है। यहा भी जघन्य और उत्कृष्ट सभव है। कोई निगोद एक शरीरमें उत्कृष्ट आयु लेकर पैदा हुए उसके कुछ ही थोड़ी देर बाद अन्य निगोद जीव उसी शरीरमे पैदा हुए तो ऐसे आगे पीछे भी पैदा होने वाले उन निगोदोंका मरण एक साथ होगा पुन' उसी देह बन्धनमें रहते हुए एक साथ जनमेंगे व मरेंगे इस बीच भी अन्य जीव भी उसी शरीर में समय बे समय पैदा हों तो प्रथम मरण साथ होगा व आगे जन्म मरण साथ होने लगेगा।

ऐसे विभिन्न समयो में पैदा होने वाले उन जीवो की पर्याप्ति भो एक साथ निष्पन्न होगी। पहिले समयोमें पैदा हुए निगोद जीवोने जो आहार ग्रहण किया था और जो शरीरशक्ति निष्पन्नकी थी उस शरीरमें बादमें उत्पन्न हुए अन्य निगोद जीवोको वह सब तैयार मामलेका अग पहिले समय से ही मिलने लगता। जैसेकि घरमे एक जेठा आदमी कमाये तो उसके भोग का अधिकार उस कुटुम्ब के सब छोटे बडो को मिल ही जाता।

सन्त कन्त धर्मवन्त ही अपना महन्त पन्त पाते हैं।

कुछ दिन ही तो ऐसे बीतो कि परका विकल्प छोड़कर मात्र आत्म सन्मुख रहो कल्याण अवश्य होगा।

किसका कौन शरण है ? उसका वही शरण है।

९ दिसम्बर १९५७

महामत्स्यसे सम्बन्धित समस्त विस्रसोपचय अथवा पुद्गल पिण्ड मात्र इतना ही नहीं है जितनाकि महामत्स्यके भीतर भीतर है, किन्तु महामत्स्यके ऊपर जितनी मिट्टी इकट्ठी हो जाती है। और उस मिट्टीमें वृक्ष व कीट आदि उत्पन्न हो जाते हैं वह सब महामत्स्यसे सम्बन्धित विस्रसोपचय है। इन ढेर व वृक्षो आदिसे भी महामत्स्य के शरीर को पोशण तत्त्व मिलते

हैं अथवा जैसे मनुष्य शरीरमें उत्पन्न कीट आदि सब अभेदरूपसे मनुष्य शरीर कहलाते हैं वैसे महामत्स्यके ऊपर नीचे स्पष्ट सभी पुद्गल पिण्ड महामत्स्य शरीर कहलाता हैं।

महामयत्स्शरीरके ऊपर मिट्टी कहासे उत्पन्न हो जाती है इसके उत्तरमें दो बातें हैं–एक तो ऊपर आ पडी गन्दगी जम जाती है दूसरे कुछ ऐसें वनस्पति भी जलमें होते हैं जिन के सूखने पर वे मिट्टी रूप परिणम जाते हैं। और फिर वहा वृक्ष कीट आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं। आखिर एक हजार योजन लम्बा व ५०० योजन चौडा शरीर भी तो है, कोई ठट्टा थोडे ही है।

राग द्वेषके फलमें इस जीव को कैसें कैसे शरीरोसे भैंट होती है। जीव स्वय सुखी है, कोई कमी नहीं है। सुखका तो घात उद्दण्डतावश स्वय कर लेता है। वाह्य पदार्थो में उपयोगसे पहुच पहुचकर आसक्त बना रहता है।

एक वार तो हिम्मत कर। सर्व बाह्य पदार्थका ममत्व छोड।

१० दिसम्बर १९५७

अपने से बडोके बडप्पनमें ध्यान लाना उन्हे अपना मार्गदर्शक मानना, उन्हें अपनेसे बडा विवेकी व ज्ञानी समझना यह स्वयके हितके लिये है। मार्दव व आर्जवके प्रकट हुए विना आत्मा सन्मार्गका पथिक नहीं बन सकता।

तत्त्वार्थसूत्रमें पुद्गल परमाणुवोके वन्धकी पद्धतिमें निम्नलिखित सूत्र हैं उनका सीधा सादा ही अर्थ उपरुक्त है–यही वर्गणाखण्डके सूत्रोंसे प्रसिद्ध हैं–

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध' = स्निग्ध, रूक्ष गुणके कारण ही अणुवोंमें बन्ध है।

नजघन्य गुणानानाम्=किन्तु जघन्य अविभाग प्रतिच्छेद याने १ अविभाग प्रतिच्छेदका स्निग्ध रूक्ष कुछ भी हो तो बन्ध नहीं होता है।

गुणसाम्ये सदृशाना=स्निग्ध स्निग्धोंका या रूक्ष रूक्षोंका यदि अविभाग प्रतिच्छेद समान हो तो बन्ध नहीं होता। इसमें यह बात अन्तरस्तृड है।

कि स्निग्ध व रूक्ष यदि समान अविभागप्रतिच्छेदके हो तो भी बन्ध हो जाता है।

द्वयधिकाधिगुणाना तु=परन्तु दो अधिक गुण वालोका सर्वत्र बन्ध हो जाता है चाहे सदृश स्पर्श वाले हो या विसदृश स्पर्श वाले हो यानि चाहे स्निग्ध रूक्ष हो या रूक्ष स्निग्ध हो, स्निग्ध स्निग्ध हों या रूक्ष रूक्ष हो, दो अधिक गुण वाले हो उनका परस्पर बन्ध हो जाता है।

११ दिसम्बर १६५७

धर्म कार्य करते हुए भी भावों मे शिथिलता क्यों आती या क्यो बढती ? इसका कारण यह है कि जिन्दगी भरके लिये या चिरकालके लिये एक लेविलका धर्म कार्यका लक्ष्य करके धर्म कार्य किया जाता है। प्रतिदिन उतना ही धर्म कार्य काण्ड करके अपनेको कृतार्थ मान लेना बन जाता है, इसमें भावोकी शिथिलता आना प्राकृतिक बात है। क्योंकि, अहाका बृहम स्वभाव है। यदि उत्तरोत्तर प्रगतिका प्रोग्राम मन में ही रहे, लक्ष्यरूप भी रहे तब भी शिथिलताका निरोध हो सकता है।

यह बात केवल धर्म क्रियाकी ही नहीं है, अन्य बातोकी भी यही बात है। ज्ञान कार्य में उत्तरोत्तर ज्ञान बढानेकी भावना रहती है तो ज्ञानकी प्रगति होती है।

भगवानके सामने रोज रोज उसी एक विनतीको पढते रहने वालोका मन या भाव बढते हुए नहीं रह पाते।

जब तक विकल्प नहीं मिटें, पूर्ण विकास प्रकट नहीं हो तब तक उत्तरोत्तर प्रगतिका परिणाम रहे तब तो निर्बाध भाववृद्धि रहती है अन्यथा अर्थात् एक लेविलके क्रियाकाण्ड में सतुष्ट रहने वाला अपने भावोंकी शिथिलता पाता ही है।

विषय कषायोसे बचनेके लिये णमोकार मन्त्रका जाप तो विषयकषायों का वार रोकनेके लिये कवच है और निज आत्मतत्वके सम्बन्ध में अपनी भाषा में अपनी बात कह लेना, सोच लेना विषय कषाय पर प्रहार है।

१२ दिसम्बर १६५७

अपने आपकी दृष्टि, निकटता ही शाश्वत आनन्दका कारण है। इसके

हे निज तत्त्व ! तू ही मेरा देव है, तू ही मेरा शास्त्र है, तू ही मेरा गुरु है। सत्य शरण तेरी उपासना ही है। इसके अतिरिक्त सर्व श्रम अश्रेय है।

आत्माकी भलाई आत्मस्वभावकी आराधनामे है। ऐसा ज्ञान करो जिससे आत्मस्वभावके उपयोगकी अभीक्ष्णता रहे। यही तेरा सत्य पुरुषार्थ है।

बहुत ज्ञान भी पाये और वह बाहरी अर्थोंमे घूमे तो वह भी जड़ धन की तरह है, उसका सचय प्रयोजन बाह्य है।

१४ दिसम्बर १९५७

आयुके क्षयको मरण कहते हैं आयु आयुके निषेकोको कहते हैं। आयु के निषेक प्रतिक्षण खिर रहे हैं वही आवीचिमरण है। प्रतिसमय हमारा मरण हो रहा है। हमे मरण समयमे समाधि रखना चाहिये याने समाधिमरण करना चाहिये। समाधि सम, एक, नित्य स्वभावकी दृष्टिसे प्रकट होती है। अतः अभीक्ष्ण दृष्टि हमारी आत्मस्वभाव पर होना चाहिये।

हे स्वाधीन देव ! अति स्वाधीन पवित्र आनन्दमय ऐसे तेरेके तिरस्कार से जीव अकथनीय क्लेशोको भोग रहा है।

परकी दृष्टिमे कदापि शान्ति हो नही सकती है क्योकि वह पर अपने द्रव्यत्व शक्तिके कारण परिणमेगा तेरी बात ही नहीं पूछ सकता। मोही परके बारेमें अपनी कल्पनायें बढ़ाकर दु खी होगा। पराये परिणमनका अधिकारी बननेमे दु ख होना न्याय है। इस दु खका खेद भी नही मानना चाहिये और यह सोचना चाहिये कि जैसा किया वैसा पाया।

खुदसे खुदका कोई १०–१५ रु० का नुकसान होता है तो उसमे वह बड़ बडाता तो नहीं और न अधिक आकुलता करता है क्योकि वह जानता तो है कि किस पर बड बडाऊ मुझसे ही तो मेरी हानि हुई है। यदि दूसरा कोई पुरुष १०–५० रु० की हानि कर दे तो उसका ख्याल करके उस पर बड बडाता भी है और अधिक आकुलता व श्रम करता है।

खुद ही मे विकल्प किया और खुद ही मे आकुलता मचा ली अब किस पर बड बडाता। मिथ्यादृष्टि जीव अपनी हानि परसे मानते हैं सो उस

सर्व विकल्प जालमात्र है। इनमे किसीको लाभ नहीं पहुंच सकता। लाभ तो आत्मानुभवमात्र है।

ॐ तत् सत्। तम सो मा ज्योतिर्गमय।

किन्ही भी अन्य ध्यानोंसे तुम्हारी आत्मामे रह क्या जायगा आत्मा तो असङ्ग है। ॐ नमोऽनेकान्ताय, असङ्गाय।

अनेकान्तमय पदार्थ है अर्थात् एक दृष्टिसे देखते हैं तो पदार्थमे अनेक अन्त याने धर्म पदार्थमें प्राप्त होते हैं और एक दृष्टिसे देखते हैं तो पदार्थ मे एक भी धर्म याने गुण प्राप्त नही होता किन्तु अखण्ड पदार्थ प्राप्त होता है।

पहिले तो भाव अभावसे ही चलकर देखलो क्या पदार्थ भावरूप ही है या पदार्थ अभावरूप ही है। भावरूप ही है तो पदार्थ सर्वात्मक हो जायगा क्योकि किसी पदार्थमे किसी पदार्थका अभाव है ही नहीं। यदि कहो पदार्थ अभावरूप ही है तो बतावो ऐसा ज्ञान भी क्या भावरूप है या अभावरूप यदि अभावरूप है तो अभावैकान्त कहा रहा? यदि भावरूप है तो अभावैकान्तकी सिद्धि नहीं हो सकती अतः पदार्थ कथंचित् भावरूप है और कथंचित् अभावरूप है।

१७ दिसम्बर १९५७

हितकी बात तो वीतरागताका विकास है सो जैसे वीतरागता प्रकट हो यह वृत्ति धर्म है।

वीतरागता क्या राग हटानेके पुरुषार्थसे प्रकट होगी या ज्ञान स्वभावमय निजके ध्यानसे प्रकट होगी? इसके उत्तर मे दोनोको उपाय कहा जा सकता है।

कभी कभी यदि इस सत्यके आग्रहसे बैठ लिया जावे कि बाह्य पदार्थ सब अहित हैं भिन्न हैं अत. मुझे किसी बाह्य पदार्थको उपभोग में नही आने देना है इस तरहसे उनके विकल्प या राग हटानेके यत्न मे लग जावे तो शुद्ध आत्मतत्त्वका स्पर्श हो जाता है और वहा वीतरागता भी प्रकट होती है।

कभी कभी यदि परमशुद्धनिश्चयनकी दृष्टि करके शुद्ध ज्ञायक स्वभावके परिचय में लग जावे तो बाह्य पदार्थोंका विकल्प राग हट जाता है उस समय

वहां बीतरागता प्रकट होती है।

उक्त दोनो उपायोमेंसे कोई एकान्त नहीं करना। समय समय पर जो उपाय बने उस उपायसे बीतरागता प्रकट करना।

बीतराग भावकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है, बीतरागताभावका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। बीतराग भावका परिणमन सम्यक्चारित्र है।

रत्नत्रय ही एक धर्म है जो ससारके दु.खोंसे छुटा कर उत्तम सुख में पहुचा देता है।

१८ दिसम्बर १९५७

आत्माका हित आत्मदृष्टिमे है। सत्य तो यह है कि कुछ भी न चाहो, किसीसे कुछ भी न बोलो, कुछ भी न सोचो। और यदि चाहो भी तो केसे समाधि, बोधि, आत्मदृष्टि हो इस ही अद्वैतकी बातको सोचा, यदि बोलो भी तो इस आत्महितकी बात ही बोलो और वह भी नियमत और मित समय में बोलो, यदि सोचो भी तो केवल इस ही निजतत्त्वकी बात सोचो।

क्यो जी, यदि ऐसा भी न कर सकें तो ? अच्छा जी, तो जहा मरना हो वहा मरो।

अनाद्यनन्त इस कालमे अमूल्य अवसर पाया, उसका यदि सत्य उपयोग न कर सके तो बस इस ही का नाम तो ससार है और यही इसी तरहसे ही तो चला आ रहा है।

संसार भ्रमणके धक्के खाना हो तो गलत बात करते रहो, गलत बात सोचते रहो। कौन मना कर सकता है तुम्हे गलत कामसे और कौन ला सकता है तुम्हें सन्मार्गमे।

तुम्हे ही मनमे भा गई हो तो मान लेना, न भाई हो तो न मानना। ससारमे डूबना हो डूबते रहना, ससारसे मुक्त होना हो मुक्त हो जाना।

करलो झट शुद्ध तत्त्वदृष्टि। नहीं तो विषयकषायके डाकू तैयार ही खडे हैं तुझे लूटनेके लिये।

जगतके जीवोंको मोह करते हुए इस कारण लाज नहीं आती कि यहा तो प्राय सभी मोहमें पड़े हुए हैं।

साधु पुरुषको निर्ग्रन्थ होनेमें इसलिये लाज नहीं आती कि उसके

उपयोगमें तो आत्मा निर्ग्रन्थ है, अनन्ता सिद्ध निर्ग्रन्थ हुए थे यह उसके ध्यानमें है ।

१६ दिसम्बर १६५७

परकीदृष्टिसे शुद्धता प्रकट नही होती और अशुद्धकी दृष्टिसे भी शुद्धता प्रकट नहीं है तथा इस समय हमारी अवस्था अशुद्ध है, फिर हम शुद्ध कैसे हो सकेंगे । यह एक विकट प्रश्न है ।

उत्तर यह है कि न हम परकी दृष्टिसे शुद्ध होगे, न हम अशुद्धकी दृष्टि से शुद्ध होगे, और न अपनी अशुद्ध पर्यायकी दृष्टिसे शुद्ध होगे, किन्तु अशुद्ध होते हुए भी हममे विराजमान, नित्य अन्त' प्रकाशमान शुद्ध आत्मद्रव्यकी दृष्टिसे शुद्ध होगे । यह शुद्धता पर्यायकी नहीं है जिसकी दृष्टिके लिये कहा जा रहा है । यह शुद्धता द्रव्यकी है ।

आत्मा सामान्य विशेषात्मक है, द्रव्यपर्यायात्मक है । इसमे जब विशेष की प्रधानतासे देखा जाता है तब पर्याय दृष्ट होती है सो इस प्रकरणमे निर्मल पर्याय भी अशुद्ध है तब विभाव पर्यायका तो कहना ही क्या है । जब सर्व पर्यायोकी दृष्टि याने विशेषोकी दृष्टि छोडकर सामान्यस्वभावकी प्रधानसे देखा जावे तब निर्विकल्प अखण्ड तत्त्व दृष्ट होता है यही दृष्ट तत्त्व शुद्ध आत्मा द्रव्य है ।

शुद्ध, सहज सिद्ध, सदाशिव, सनातन, स्वत'सिद्ध चैतन्य महा प्रभो ! जयवंत होहु ।

पर्यायशुद्ध, कर्मक्षयसिद्ध, मुक्तशिव, साद्यनन्त, उपादानसिद्ध, कार्यपरमात्मन् परमेष्ठि प्रभो ज्ञानपथगामी होहु ।

२० दिसम्बर १६५७

सुख कल्याण, शान्ति, अनाकुलता तेरे उपयोगके आधीन है । परकी ओर उपयोग करके परमे एकत्वका आचरण किया, लो दु खी हो गये । सर्व परको भिन्न अहित जानकर उसमें बुद्धि न देकर निज चैतन्यस्वभावमे उपयोग किया कि लो शान्ति हो गई ।

जो करना हो करलो । सर्व कुछ यथार्थ जानकर भी आप पर जो आपत्ति आती है तो वहा क्या करो, उसके ज्ञायक भी रहो । खोटे भाव भी

हो तो भी इस समझसे तो न चूको कि ये भी प्रकृतिके उदयके निमित्तसे हुए हैं मेरे स्वभावसे नहीं हुए हैं मै ध्रुव चैतन्यस्वरूप हू । विभावोके ज्ञाता रहे आवो।

परद्रव्य मेरे कुछ नहीं हाने । मैं चेतन हू, ये अचेतन हैं। मुफ्त ही अचेतनकी इच्छा करके क्लेश ही होना होता है। सिद्ध समान प्रभुता पाकर भी क्या भिखारीपन लादा है मोहने।

पर पदार्थोंका चित्तसे बिलकुल सम्बन्ध नहीं त्यागा तो सन्यासीपन नहीं है और न लाभ है वाह्य त्यागका कष्ट तथा फोकटमे सहना रहा।

मुखमें बोल जाते हैं अनादिमे जीवने मिथ्या भ्रमवश अनेक सकट सहे, बाह्य पदार्थका विकल्प ही किया आदि । और ऐसा ही कह कह कर विकल्प बनाये ही रहे तो इसमें हुआ क्या ? वही की वही बात। सुवाबत्तीसी पढ लेंगे और खुद वही सुआ रहेगे।

२१ दिसम्बर १९५७

निदानमें तो धर्म, तप करते हुए इच्छा करना कहा, मानो धर्म व तप के फलमे कुछ समागम चाहा। इच्छामे वेदनाके कारण चाह करना होती है।

मोक्षमार्गमें वीरताके साथ बढो। जैसे लोकमार्गमें बढनेकी एक विशेषता यह होतो है कि पीछे मुडकर वीर नही देखते वैसे मोक्षमार्गमें बढने की एक विशेषता यह होती है कि त्यागे हुए परपदार्थकी ओर पीछे मुडकर मोक्षमार्गी नहीं देखते।

बढे चलो, बढे चलो साहस व सावधानीके साथ। पर पदार्थोंका समागम तो पूरा तरहसे छोड दो। रच भ' सम्बन्ध न रखो।

मैं अपने बारेमें सोचता हू कि मैं सर्व विकल्पोके साधनका सर्वथा त्याग करू। यह बात मैं उस दिन कर लूंगा जिस दिन मै स्वय कुछ निबन्ध लिखना छोड दूगा केवल डायरीको छोडकर। किन्तु, और कुछ छोड चुकने पर भी दो विकल्प चलते रहेगे इसका सोच है एक तो इंगिलश में समयसार–एक्सपोजीसन (Samay Sar exposition) दूसरा समयसारभाष्य। इनके लिखनेमे तो कुछ आपत्ति है नहीं परन्तु इनके साधनभूत

कुछ कापी पुस्तक वगैरह रखना पड़ती। संभव है श्रुत देवता मन्दिर बनने पर यह भी काम होता रहे व निवृत्तिका भी काम होता रहे।

आत्मन्! उमङ्गकर आत्मानुभवके प्रयत्नके लिये। प्रेय, श्रेय! प्रोग्राम बना वर्तमान संग्रह (पुस्तकादि सामान) से निवृत होकर इनका सामान रखनेके लिये जो स्वयं ले जाया सके। अब तो ऐसे प्रोग्रामसे चल। सगका कोई विकल्प न कर।

२२ दिसम्बर १९५७

बाह्य सब हैं क्योंकि सब अन्य सबसे अलग हैं। द्रव्य ६ जातिके हैं उनमें आत्मा भी एक जातिका पदार्थ है। फिर आत्मा आत्मासे भेद क्या है। यदि आत्मद्रव्योमे अन्तर हो तो जाति एक रह नहीं सकती।

सर्व आत्मावोमे चैतन्यभाव समान है। अहो! उस चैतन्य स्वभावकी दृष्टि अमृत ही है क्योंकि उसके पानसे सर्व भ्रम व आकुलतायें समाप्त हो जाती हैं।

चैतन्यास्वभावकी दृष्टिके लिये निम्नांकित बातोंका बाह्य साधन अवश्य होना चाहिये—

(१) किसी भी सस्थासे सम्बन्ध नहीं होना।

(२) लोदमें धर्मप्रचार हो ऐसा प्रोग्राम स्वयं न बनाना।

(३) आंखोको बन्द रखना आहार, विहार, स्वाध्याय आदि आवश्यक कार्योंके होने पर ही खोलना।

तत्त्वज्ञान तो परमावश्यक है ही। तत्त्वज्ञानी होकर भी जो लोग चैतन्य-स्वभाव दृष्टिको अशक्त रहते हैं उनके लिये उक्त तीन बातें हैं।

ध्यान बढानेके पाच कारण हैं—(१) वैराग्य, (२) तत्त्वज्ञान, (३) निष्परिग्रहता, (४) समभाव, (५) सहिष्णुता। इन पाच कारणोंको बना कर ध्यान भी बढाया जाय।

निज सहज स्वभावके लाभके लिये जो कुछ भी करना सामने आ पड़े वह सब करना चाहिये।

सत्यकी ही अन्तमें विजय होती है। धोखा देने वाला खुद धोखेमें है। प्रकृतिका न्याय असत्य नहीं होता।

२३ दिसम्बर १९५७

सबसे बडा पाप है पर्यायबुद्धि । लोग यह तो कहते हैं कि ये जैन रात्रिभोजन करते हैं, ये जैन होकर अनछना जल पीते हैं इत्यादि, परन्त विरल हैं अथवा नहीं हैं जो यह कहें कि ये या आप जैन होकर देहमें बुद्धि करते हैं । विषयोमे आशक्त होते हैं । । १

जैसे कि लोग प्राय. आलू आदि कन्दो पर ता कहते हैं कि आप होकर आलू शकलकद खाते हैं, यह कोई नहीं कहता कि आप जैन बाजारकी दही, जलेबी, चाट खाते हैं । हिंसाकी दृष्टिसे कन्दसे अधिक चाट आदिमे है । किन्तु, रूढि ऐसी चल गई कि कन्दको आलोचना करते हैं और त्रसहिंसाकी वस्तुकी बात कान पर ही नही रेगती ।

वैसे ही धर्मके नाम पर दर्शन, मन्दिर आदि तो कर लेते हैं व कोई दर्शन न करे तो कह लेते हैं कि आप जैन होकर दर्शन नहीं करते किन्तु देहसे भिन्न मैं आत्मा हू, देह जड है मै चेतन हू, मेरे देहमे बुद्धि न जावे, धनमें व विषयोमे आशक्ति न हो ऐसा भाव मनमें लाते ।

मित्रताका भी ऐसा ही हाल है—लोग मित्रताके नाते विषयकषा साधनोकी खबर दबर तो लेते हैं किन्तु आपका उपयोग कितना स्वाधीन है, स्वाधीन सुखके कितने समीप पहुचे हैं आदि बात कोई नहीं पूछते नही पूछते हैं । हा, तो वे ठीक भी करते हैं, क्योकि पूछने वाले भी स्वाधीन उपयोग वाले हो गये होते व स्वाधीन सुखके समीप पहुचे हुए तो उनके यह बात पूछनेका प्रयत्न ही क्यो हो ।

२४ दिसम्बर १९५७

हे शुद्धात्मदेव ! धन्य हो, तुम ही उपास्य हो, तेरी छायामे रहकर बडी रक्षा है । विषयकषायके भाव ही बडे चोर और डाकू हैं जो कि ज्ञान आनन्दके वैभवको लूट रहे ह ऐसे डाकुओसे बचानेमे पूर्ण समर्थ का ध्यान है ।

हे परमपिता ! तू तो पिता ही है, रक्षक ही है, मैं कपूत हू, क्या अनादिसे तो सभी कुपूत रहे कई पहिले सुपूत हो चुके आपके, मै अब

कुपूत रहा। औरोकी अपेक्षा इतना ही तो फरक है कि कुपूतीका काल कुछ लम्बा हो गया। हो गया नाथ! इसकी क्षमा करहु याने अब आपके ज्ञानमें सुपूतपना ही झलको। क्योंकि मेरे अन्तरकी बात यह है कि मै भीतरसे यही चाहता हू कि परमपिता जी ही मेरे उरमें बसो और उनकी आज्ञा पर ही मेरा उपयोग चलो।

ऐसे अन्त' सुपूतमे क्या आपका ध्यान स्थान न पावेगा?

हे परमशरण! हे परमेष्ठिन्! हे परमात्मन्! सच बात यही है कि विषयकषाय भावके सन्तापसे सन्तप्त प्राणीको आपकी उपासनाके अतिरिक्त अन्य कुछ उद्धारका मार्ग नहीं है।

आपकी उपासना प्रथम दरबार है इसके प्रमादसे ही वह योग्यता आवेगी जिससे अन्तरङ्ग दरबारमें दाखिल होकर मैं कृतार्थ होऊ गा।

२५ दिसम्बर १६५७

शुद्धात्मस्वरूपका ध्यान ही परमस्वाध्याय है। यह मर्म दो प्रकारसे जाना जाता है—(१) जैसे जिस पाकशास्त्रमे लड्डू आदि खाद्य पदार्थोंके बनानेकी सर्व प्रक्रिया लिखी है उस पाकशास्त्रकी एक पुरुष स्वाध्याय करता है याने उसे पढ़ता है और एक दूसरा पुरुष उस प्रक्रिया से लड्डू बना देता है तब पूरा स्वाध्याय याने पढ़ना लड्डू बनाने वालेका कहेगे। वैसे ही जिन शास्त्रोमें आत्मस्वरूप, आत्मकल्याणके उपायकी बातें लिखी हैं उन शास्त्रोका एक पुरुष स्वाध्याय करता है याने उन्हे पढ़ता है और एक कोई दूसरा पुरुष आत्मस्वरूपकी दृष्टि और उसके चिन्तन वा निर्विकल्प समाधिका, आनन्द लेता है तब उत्तम व पूर्ण स्वाध्याय तो आत्मध्यानीका कहेंगे।

अथवा जैसे किसी बड आफीसरने उसके मातहत रहने वाले क्लर्कको अपने दफ्तरके ड्यूटी पर आनेका हुक्म लिखकर भेजा। यदि वह क्लर्क उस आज्ञा पत्रको ७४ बार भी पढ़ल और आज्ञाका काम करे नहीं तो वह पढ़ना ही क्या उसे तो नौकरीसे बर्खास्त किया जायगा। हा यदि एक बार ही पढ़कर अपनी ड्यूटी करे तो वह पढ़ना है। वैसे ही हमारे कृपालु भगवन्त आचार्य संतोने हमें हुक्म भेजा है कि आत्मस्वरूपका ज्ञान, दर्शन व ध्यान करो। यदि हम इस आज्ञापत्रको ५० वर्ष भी रोज २-२ बार पढ़ते रहे किन्तु इस

बातको माने बिलकुल नहीं, तो वह क्या स्वाध्याय है। इस तरह तो मनुष्य पर्यायसे बरखास्त हो जावेंगे। हां, यदि आत्मदर्शन करें तो वह उत्तम व पूर्ण स्वाध्याय कहावेगा।

(२) स्व याने आत्माका अध्याय याने भजन करना स्वाध्याय है वह आत्मध्यानमें पूर्ण हो जाता है।

२६ दिसम्बर १९५७

हे नाथ, हे शरण! मुझ उपयोगको अपने ध्यानकी छायामें बिठा लो प्रभो। ये विभाव, ये विपदायें, ये पहाड मुझ पर मत टूटो। मैं आगेके भव में भी इन्द्रियसुख नहीं चाहता हू। यह अति पराधीन है, आकुलतामय है, लेश भी हित रूप नहीं है।

भविष्यमें देवाङ्गनायें भी मिलें तो आनन्दमें तो उनके उपयोगसे बाधा ही रहेगी। कल्पित सुखमे रम जाना महा अज्ञान है। इसका फल संसारमें भ्रमण ही है।

ससार महावन है। इसमे भूले हुए प्राणीका इसका पार पा लेना अति कठिन है।

संसार चक्र, विषय चक्र है। इसका गोरखधधा सुलझानेके यत्नमे भी उलझता रहता है। सुलझानेके प्रयत्नमें सभी लोक हैं। जो इसकी उपेक्षा करे वह सुलझ जाता है।

नाथ! नाथ! नाथ! प्रसन्न होहु। तीन लोकके वैभवका सुख भी हेय है, आकुलताका कारण है। कुछ भी तो नहीं चाहिये मुझे नाथ।

स्वाधीन बात इतनी कठिन हो रही है मुझे। प्रभो! अबका दाव मेरा निष्फल न जावे। ससार समुद्रमे डूबे हुए को आज बडा सहारा मिला है उस सहारेका सदुपयोग हो। विषयकषायके परिणामका सर्वथा अभाव हो।

२७ दिसम्बर १९५७

जैसे कोई आखका अन्धा, अङ्गका खजेला पुरुष सुखके उद्देश्यसे किसी नगरमें प्रवेश करना चाहता है तो वह नगरके चारों तरफ फिरे हुए कोट पर हाथ रखता हुआ चलता रहता है किन्तु जब ही दरवाजा आता है तब कोट

परसे हाथ छोड़ अङ्गकी खाज खुजाने लगता है और चलना जारी ही रखता है। फल यह होता है कि चारो ओर घूमता रहता है, सुखके अर्थ यत्न करके भी दुःख ही पाता है।

जैसे ही अज्ञानका अन्धा, विषयका खजेला जीव शान्तिके उद्देश्यसे आत्मनगरमें प्रवेश करना चाहता है तो वह आत्मनगरके बाहर चारों ओर पड़े हुए अनात्मतत्त्वमें उपयोग लगाता हुआ परिणमता रहता है, किन्तु जब मनुष्यभव, उत्तमकुल, श्रेष्ठ वातावरण आदिका सुयोग आता है तब अपने भावसे हटकर विषयकी खाज विशेष खुजाने लगता है और परिणाम व परिणामफल कर्मबन्ध जारी रखता है। फल यह होता है कि कुयोनियोंमें वह भ्रमण करता रहता है। सुखके अर्थ यत्न करके भी दुःख ही पाता है।

* इति श्रीयत् सहजानन्द कृत डायरी सन् १९५७ समाप्तम् *

आत्मकीर्तन

स्वतन्त्र निश्चल निष्काम,
ज्ञाता दृष्टा आतम राम ॥ टेक ॥

[१]

मैं वह हू जो हैं भगवान,
जो मैं हू वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान,
वे विराग यहा राग-वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान,
अमितशक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आश वश खोया ज्ञान,
बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन,
मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज पर को पर जान,
फिर दुख का नहि लेश निदान ॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम,
विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्याग पहुचू निज धाम,
आकुलता का फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वय जगत परिणाम,
मैं जग का करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम,
"सहजानन्द" रहू अभिराम ॥

कृष्णकान्त शर्मा के प्रबन्ध से एज्यूकेशनल प्रेस, मेरठ मे मुद्रित ।